"The Indian Judicial System- A Historical Survey"

By Hon'ble Mr. Justice Shanti Swarup Dhawan

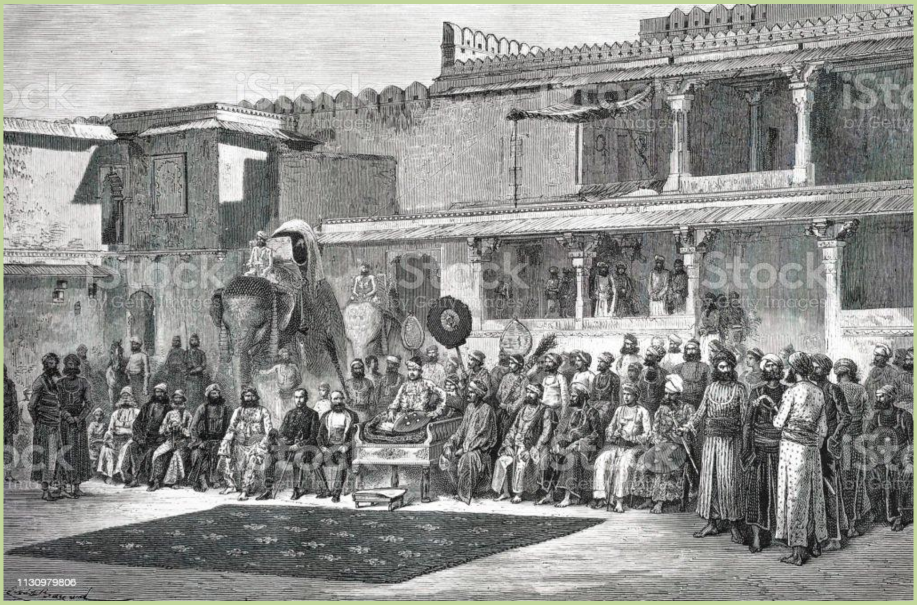

Translated By

Sri Brahmatej Chaturvedi

Registrar (J)(Enquiry), High Court, Allahabad

भारतीय न्यायिक व्यवस्था - एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण

श्री न्यायमूर्ति शान्ति स्वरूप धवन

"The Indian Judicial System- A Historical Survey"

By Shri Justice Shanti Swarup Dhawan

का हिन्दी अनुवाद

अनुवादक - ब्रह्मतेज चतुर्वेदी, निबंधक(न्यायिक), इलाहाबाद उच्च न्यायालय।

“इंग्लैंड, पश्चिमी यूरोप और संयुक्त राज्य अमेरिका में न्यायाधीश और वकील अपनी-अपनी संस्कृति के विधिशास्त्र से निरंतर प्रेरणा और शिक्षा प्राप्त करते हैं, जो बीस शताब्दियों से विकासशील है।..............लेकिन भारतीय न्यायाधीश या वकील को इसकी प्रेरणा कहां से मिलती है ? अपनी संस्कृति के विधिशास्त्र से नहीं। वह रोमन कानून और पश्चिमी न्यायविदों के सिद्धांतों के बारे में तो कुछ जानता है परन्तु अपनी संस्कृति के कानून और न्यायशास्त्र के विकास के बारे में अल्पज्ञ ही है।”

“बुद्धिमान न्यायाधीश गंगा की तरह स्वर्ग से अवतरित नहीं होते: वे समाज से ही निकलते हैं और सामाजिक वातावरण से पोषित होते हैं। महान न्यायाधीश जन्मजात नहीं होते हैं वरन् उचित शिक्षा और महान कानूनी परंपराओं द्वारा उनका निर्माण होता है, जैसे प्राचीन भारत में मनु, कौटिल्य, कात्यायन, बृहस्पति, नारद, पराशर और याज्ञवल्क्य आदि जैसे विधि के दिग्गज हुए हैं।”

\- श्री न्यायमूर्ति शान्ति स्वरूप धवन

प्राक्कथन

जब देश स्वतंत्र हुआ तो तात्कालिक आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए औपनिवेशिक व्यवस्थाओं को जारी रखा गया। न्यायिक क्षेत्र में भी यही हुआ। हमारी न्यायिक व्यवस्था लगभग पूरी तरह ब्रिटिश ढांचे पर विकसित हुई।

ऐसा नहीं है कि हमारे देश में अपना कोई न्यायिक इतिहास नहीं है। हमारे देश में एक सुस्थापित न्यायिक तंत्र था, जो तत्कालीन सामाजिक आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुरूप था। प्राचीन भारत में मनु, कौटिल्य, कात्यायन, बृहस्पति , नारद, पाराशर और याज्ञवल्क्य आदि जैसे विधि के दिग्गज थे। हमारे महान विधिवेत्ताओं ने विधिक क्षेत्र में ऐसे मानदण्ड स्थापित किए हैं जो विश्व की अन्य प्राचीन न्यायिक व्यवस्थाओं में नहीं मिलते।

हाल ही में भारत के उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री न्यायमूर्ति एन.वी. रमण ने गरीबों तक न्याय की अधिकाधिक पहुंच हेतु समय की आवश्यकता के रूप में कानूनी प्रणाली के "भारतीयकरण" का आह्वान किया था।

इसी प्रकार उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश श्री न्यायमूर्ति एस. अब्दुल नज़ीर ने राष्ट्रीय हित के लिए हानिकारक औपनिवेशिक कानूनी व्यवस्था को ख़त्म करने और प्राचीन भारत के अन्य कानूनी दिग्गज मनु, कौटिल्य, कात्यायन, बृहस्पति, नारद, पराशर और याज्ञवल्क्य के अनुसार महान कानूनी परंपराओं को अपनाने की आवश्यकता को रेखांकित किया।

माननीय इलाहाबाद उच्च न्यायालय की स्थापना के 100 वर्ष पूर्ण होने के अवसर पर प्रकाशित पुस्तक "CENTENARY- HIGH COURT OF JUDICATURE AT ALLAHABAD, 1866-1966" में श्री न्यायमूर्ति शान्ति स्वरूप धवन (एस. एस. धवन) का एक लेख "The Indian Judicial System - A Historical Survey" संकलित किया गया था। उल्लेखनीय है कि यह लेख माननीय इलाहाबाद उच्च न्यायालय की आधिकारिक वेबसाइट http://www.allahabadhighcourt.in पर Publication शीर्षक के अंतर्गत में Commemorative Volumes 100 Years - Centenary Celebration(1866-1966) के Volume I में भी उपलब्ध है।

उक्त लेख अत्यंत उत्कृष्ट कोटि का है। इसमें कहा गया है कि कुछ ब्रिटिश लेखकों द्वारा भारतीय न्यायशास्त्र और प्राचीन भारत की न्यायिक व्यवस्था के सम्बन्ध में अत्यधिक मिथ्यानिरूपण किया गया जो सरासर अज्ञानता या साम्राज्यवादी स्वार्थ या भारतीय संस्कृति और सभ्यता के प्रति अवमानना के कारण हो सकता है लेकिन इस मिथ्यानिरूपण, जिसकी इतिहास

में कुछ ही मिसालें हैं, के परिणामस्वरूप भारत और उसके बाहर भारतीय न्यायिक प्रणाली की एक झूठी तस्वीर बन गई। इस लेख में लेखक ने भारतीय न्यायशास्त्र और प्राचीन भारत की न्यायिक व्यवस्था के सम्बन्ध में गहन शोध के आधार पर यह सिद्ध किया है कि प्राचीन भारत में न्यायिक व्यवस्था अत्यन्त सुदृढ़ थी। विद्वान लेखक के अनुसार-

"प्राचीन भारत की न्याय व्यवस्था के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए हमें मूल ग्रंथों का अध्ययन करना होगा। उनसे पाठक को ज्ञात होगा कि भारतीय न्यायशास्त्र विधि के शासन पर आधारित था; कि राजा भी विधि के अधीन था; .... कि किसी भी पुरातन राष्ट्र की तुलना में प्राचीन भारत में न्यायपालिका की क्षमता, ज्ञान, निष्ठा, निष्पक्षता और स्वतंत्रता के मानक उच्चतम थे और उन्हें आज तक पार नहीं किया जा सका है; ....कि भारतीय न्यायशास्त्र रेस ज्यूडिकेटा(प्राङ्ग न्याय) जैसे सिद्धांत से परिचित था; कि दीवानी हों या आपराधिक, सभी मुकदमे कई न्यायाधीशों की पीठ द्वारा, और अपवादस्वरूप ही एकल न्यायाधीश द्वारा, सुने जाते थे; ....कि न्यायालय का मौलिक कर्तव्य "पक्षपात या भय के बिना" न्याय करना था।"

इस लेख में प्राचीन भारत के विधि के दिग्गजों मनु, कौटिल्य, कात्यायन, बृहस्पति, नारद, पाराशर और याज्ञवल्क्य आदि के ग्रन्थों से उद्धरण लिए गए हैं।

मैंने उक्त लेख का हिन्दी में भावानुवाद करने का प्रयास किया है। नि:संदेह उत्कृष्ट कृतियों का अनुवाद सरल नहीं होता है। इसलिए इस अनुवाद में त्रुटियाँ होना संभव है, जिनके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। यह अनुवाद महान लेखक को मेरी विनम्र श्रद्धाञ्जलि है।

ब्रह्मतेज चतुर्वेदी,
निबंधक(न्यायिक), इलाहाबाद उच्च न्यायालय।

श्री न्यायमूर्ति शान्ति स्वरूप धवन

परिचय

श्री न्यायमूर्ति शान्ति स्वरूप धवन का जन्म 2 जुलाई 1905 को डेरा इस्माइल खान, ख़ैबर पख़्तूनख़्वा(जो अब पाकिस्तान में है) के राय बहादुर बली राम धवन के घर में हुआ था। श्री धवन की शिक्षा लाहौर के फॉर्मन क्रिश्चियन कॉलेज और कैम्ब्रिज के इमैनुएल कॉलेज(जहाँ वह कैम्ब्रिज यूनियन के अध्यक्ष बने) में हुई। उन्होंने मिडिल टेंपल, इन्स ऑफ़ कोर्ट, लन्दन से विधि की शिक्षा प्राप्त की। उन्होंने 1940 से 1954 तक इलाहाबाद विश्वविद्यालय में कानून के प्राध्यापक के रूप में कार्य किया। तत्पश्चात् 28 जून 1958 से 2 जुलाई 1967 तक वह इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर रहे। श्री धवन को 1968 में यूनाइटेड किंगडम में उच्चायुक्त नियुक्त किया गया। वह 19 सितंबर 1969 से 21 अगस्त 1971 तक पश्चिम बंगाल के राज्यपाल भी रहे। उनके एक पुत्र श्री रवि धवन इलाहाबाद और पटना के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश थे। उनके दूसरे पुत्र श्री राजीव धवन भारत के उच्चतम न्यायालय में एक प्रसिद्ध वरिष्ठ अधिवक्ता हैं। उनकी पुत्री श्रीमती रानी धवन शंकरदास एक सामाजिक इतिहासकार हैं और जेल सुधारों की विश्वस्तरीय विशेषज्ञ हैं।

भारतीय न्यायिक व्यवस्था - एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण

श्री न्यायमूर्ति एस.एस. धवन, इलाहाबाद उच्च न्यायालय

भाग क : प्राचीन भारत में न्यायिक व्यवस्था

विश्व में भारत की न्यायपालिका सर्वाधिक प्राचीन है। किसी अन्य न्यायिक प्रणाली में इससे अधिक प्राचीन या श्रेष्ठ इतिवृत्त नहीं है।

परंतु प्राचीन भारत की न्यायिक व्यवस्था का वर्णन करने से पूर्व मैं चेतावनीस्वरूप कुछ कहूँगा। पाठक को भारतीय न्यायशास्त्र और प्राचीन भारत की न्यायिक व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ ब्रिटिश लेखकों द्वारा किए गए अत्यधिक मिथ्यानिरूपण को खारिज कर देना चाहिए। मैं कुछ उदाहरण दूंगा। हेनरी मेन(Henry Mayne) ने प्राचीन भारत की न्यायिक व्यवस्था को "क्रूर बेतुकेपन के एक उपकरण"(As an apparatus of cruel absurdities) के रूप में दर्शाया है। एक एंग्लो-इंडियन विधिवेत्ता ने अंग्रेज़ों के भारत-आगमन से पूर्व भारतीयों के "जीवन की प्राच्य आदतों" के बारे में निम्नलिखित टिप्पणी की थी : "यह (भारत में ब्रिटिश शासन) विदेशी शासकों द्वारा एक अनजानी भूमि में अजनबी नस्लों पर शासन करने हेतु यूरोपीय व्यवस्थाओं को जीवन की प्राच्य आदतों के अनुकूल बनाने के लिए और उन लोगों के बीच, *जो सदैव शासन को मनमाने और अनियंत्रित अधिकार से सम्बद्ध करते हैं*, निश्चित कानूनों को सर्वोच्च बनाने के लिए किए गए प्रयोगों का एक रिकॉर्ड है।"[1](मेरे द्वारा इटैलिसाइज़्ड)भारतीय सिविल सेवा के एक सेवानिवृत्त सदस्य एलन ग्लेडहिल ने लिखा है कि "जब अँग्रेज़ों ने भारत में सत्ता संभाली तो 'विधिक सिद्धांतों की कमी' थी।"[2]

ये कथन असत्य हैं। यह अनुमान लगाना मेरा काम नहीं है कि ऐसा क्यों कहा गया। ऐसा सरासर अज्ञानता या साम्राज्यवादी स्वार्थ या भारतीय संस्कृति और सभ्यता के प्रतिअवमानना के कारण हो सकता है, जो साम्राज्यवाद के स्वर्णिम काल में ब्रिटिश न्यायविदों, इतिहासकारों और विचारकों पर हावी साम्राज्यवादी दृष्टिकोण का अंग था। लेकिन इस मिथ्यानिरूपण, जिसकी

---

[1] History of the Constitution of the Courts and Legislative Authorities in India, by Cowell (1872), p.3.

[2] Alan Gledhill: The Republic of India, p.147 निष्पक्षतापूर्वक कहा जाए तो ई.बी. हावेल, ए.एल.बाशम, स्पेलमैन आदि जैसे अनेक ब्रिटिश भारतविद् अपने पूर्ववर्ती साम्राज्यवादियों जैसे पूर्वाग्रह नहीं रखते हैं, यद्यपि उनका दृष्टिकोण हमसे भिन्न हो सकता है। पाठक को ई.बी. हैवेल कृत The History of Aryans Rule in India, ए.एल. बाशम कृत The Wonder that was India और जॉन डब्ल्यू. स्पेलमैन कृत Political Theory of Ancient India का अध्ययन करना चाहिए।

इतिहास में कुछ ही मिसालें हैं, के परिणामस्वरूप भारत और उसके बाहर भारतीय न्यायिक प्रणाली की एक झूठी तस्वीर बन गई ।

प्राचीन भारत की न्याय व्यवस्था के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए हमें मूल ग्रंथों का अध्ययन करना चाहिए। उनसे पाठक को ज्ञात होगा कि भारतीय न्यायशास्त्र विधि के शासन पर आधारित था; कि राजा भी विधि के अधीन था; कि भारतीय राजनीतिक सिद्धांत और न्यायशास्त्र में स्वेच्छाचारिता का कोई स्थान न था और राजा का शासनाधिकार कर्त्तव्यपालन के अधीन था, जिसके उल्लंघन का परिणाम राजपद की समाप्ति होता था; कि न्यायाधीश स्वतंत्र थे और केवल विधि के अधीन थे; कि किसी भी पुरातन राष्ट्र की तुलना में प्राचीन भारत में न्यायपालिका की क्षमता, ज्ञान, निष्ठा, निष्पक्षता और स्वतंत्रता के मानक उच्चतम थे और उन्हें आज तक पार नहीं किया जा सका है; कि भारतीय न्यायपालिका में शीर्ष पर मुख्य न्यायाधीश(प्राड्विवाक) के न्यायालय के साथ न्यायाधीशों का एक ऐसा पदानुक्रम था, जिसमें प्रत्येक उच्चतर न्यायालय को निचले न्यायालयों के निर्णय की समीक्षा करने की शक्ति प्राप्त थी; कि विवादों को अनिवार्य रूप से प्राकृतिक न्याय के उन्हीं सिद्धांतों के अनुसार तय किया जाता था जो आजकल आधुनिक राज्य में न्यायिक प्रक्रिया को नियंत्रित करते हैं; कि प्रक्रिया और साक्ष्य के नियम आज के समान थे; कि प्रमाण हेतु कठिन परीक्षा के प्रकृतिविरुद्ध तरीकों को हतोत्साहित किया जाता था; कि आपराधिक वादों में अभियुक्त का अपराध विधि-अनुसार सिद्ध न होने तक उसको दंडित नहीं किया जा सकता था; कि दीवानी मामलों के वादों में किसी भी आधुनिक वाद की तरह चार चरण थे – वादपत्र, उत्तर, सुनवाई और डिक्री; कि भारतीय न्यायशास्त्र रेस ज्यूडिकेटा(प्राङ्ग न्याय) जैसे सिद्धांत से परिचित था; कि दीवानी हों या आपराधिक, सभी मुकदमे कई न्यायाधीशों की पीठ द्वारा, और अपवादस्वरूप ही एकल न्यायाधीश द्वारा, सुने जाते थे; कि राजा के सिवाय सभी न्यायालयों के आदेश निश्चित सिद्धांतों के अनुसार अपील या समीक्षा के अधीन थे; कि न्यायालय का मौलिक कर्तव्य "पक्षपात या भय के बिना" न्याय करना था।

प्राचीन भारत में विधि का शासन

क्या प्राचीन भारत में विधि का शासन था? आइए ! सीधे ग्रन्थों से ही जानते हैं। महाभारत में कहा गया है- "प्रजा की रक्षा करने की शपथ लेने के बाद उसकी रक्षा न करने वाला राजा पागल कुत्ते की तरह मारे जाने योग्य है।"[3]

[3] अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः।
स संहत्य निहन्तव्यः श्वेव सोन्मादातुरः।। -महा० शा० पर्व

"ऐसा राजा वध-योग्य है, जो प्रजा की रक्षा नहीं करता है वरन् उन्हें उनकी धन-संपत्ति से वंचित करता है और जो किसी से सलाह या मार्गदर्शन नहीं लेता है। ऐसा राजा, राजा नहीं वरन् दुर्भाग्य है।"[4]

इन प्रावधानों से संकेत मिलता है कि संप्रभुता एक परोक्ष सामाजिक समझौते पर आधारित थी और यदि राजा पारंपरिक समझौते का उल्लंघन करता था तो वह अपना राजत्व खो देता था। मौर्य साम्राज्य के ऐतिहासिक कालखण्ड में कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में एक राजा के कर्तव्यों का वर्णन इस प्रकार किया है : "प्रजा के सुख में राजा का सुख है, उसके कल्याण में उसका कल्याण; स्वयं को प्रिय वस्तु को वह हितकारी नहीं मानेगा वरन् प्रजा को प्रिय वस्तु को ही वह हितकारी मानेगा।"[5]

कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त रामायण-युग में पहले से ही स्थापित एक अति प्राचीन परंपरा पर आधारित था। अयोध्या के राजा राम अपनी प्रिय रानी, जिनकी पवित्रता का उन्हें पूर्ण विश्वास था, को निर्वासित करने हेतु केवल इसलिए विवश हो गए कि उनकी प्रजा की दृष्टि में अपहरणकर्ता के घर में एक वर्ष बिताने वाली पत्नी को पुन: स्वीकार कर लेना अनुचित था। भग्न हृदय से राजा ने लोक इच्छा के समक्ष समर्पण कर दिया। [6]

महाभारत में एक कथा है कि एक साधारण मछुआरे ने अपनी पुत्री का विवाह हस्तिनापुर नरेश से तब तक नहीं किया जब तक कि उन्होंने इस शर्त को स्वीकार नहीं कर लिया कि मछुआरे की कन्या के पुत्र ही सिंहासन के उत्तराधिकारी होंगे, न कि उनकी पहली रानी के पुत्र। राजकुमार देवव्रत द्वारा सिंहासन का परित्याग और आजीवन ब्रह्मचर्य का प्रण(भीष्म प्रतिज्ञा) महाभारत के सर्वाधिक हृदयस्पर्शी प्रकरणों में से एक है।[7] किन्तु न्यायविदों की दृष्टि में इसका महत्व यह है कि शासक भी विधि से ऊपर नहीं था। हस्तिनापुर के महान राजा भी अपनी प्रजा के साधारण व्यक्ति को विवश नहीं कर सके कि उनके द्वारा उसकी शर्तों को स्वीकार किए बिना वह अपनी पुत्री का विवाह उनसे कर दे। इससे इस विचार का खंडन होता है कि प्राचीन भारत में राजा

---

[4] अरक्षितारं हर्तारं विलोप्राय मनालयम् ।
तं वै राजकलिं हन्यु: प्रजा सम्यङ् निर्ग्रहणम्।। -महा० शा० पर्व

[5] प्रजा सुखे सुखं राज्ञ: प्रजानां च हिते हितं ।
नात्म प्रियं हितं राज्ञ: प्रजानां तु प्रियं हितं।। -अर्थ०

[6] .... पतितं शोक सागरे।
न हि पश्याम्यहं भूतं किञ्चिद् दु:ख मत: परं।। -वाल्मीकि रा० उ० का० ४५-१५

[7] एवमेतत्करिष्यामि यथावात्मनु भाषसे।
योऽस्य जनिष्यते पुत्र: स नो राजा भविष्यति।। -महा० आ० प० १००, ६७
अद्य प्रभृति मे दाश ! ब्रह्मचर्य्यं भविष्यति।। -महा० आ० प० १००, ८५

"प्राच्य निरंकुश" थे, जो विधि या प्रजा के अधिकारों की उपेक्षा कर अपनी इच्छापूर्ति कर सकते थे।

प्राचीन भारत में न्यायपालिका

इस परिचयात्मक चेतावनी के साथ मैं प्राचीन भारत की न्यायिक व्यवस्था का वर्णन करने का प्रयास करूँगा। कौटिल्य, जिन्हें सामान्यतया प्रथम मौर्य सम्राट (322-298 ई० पू०) के प्रधानमंत्री के रूप में मान्यता प्राप्त है, के अर्थशास्त्र के अनुसार राज्य को प्रशासनिक इकाइयों- स्थानीय, द्रोणमुख, खार्वटिक और संग्रहण(आधुनिक ज़िले, तहसील और परगने के प्राचीन समतुल्य) में विभाजित किया गया था। आठ सौ ग्रामों के केंद्र में स्थानीय नामक दुर्ग होता था, 400 गांवों के बीच में एक द्रोणमुख, 200 गांवों के बीच में एक खार्वटिक और दस गांवों के केंद्र में एक संग्रहण था। प्रत्येक संग्रहण में और जनपदों के मिलनस्थलों(जनपदसन्धिषु) में भी न्यायालयों की स्थापना की गई थी। न्यायालय में तीन न्यायविद(धर्मस्थ) और तीन मंत्री(अमात्य) होते थे।[8]

इससे सर्किट अदालतों के अस्तित्व का संकेत मिलता है क्योंकि यह मानना कठिन है कि क्षेत्र के प्रत्येक ज़िले में तीन मंत्रियों को स्थायी रूप से तैनात किया जाता हो।

महान न्यायविदों मनु, याज्ञवल्क्य, कात्यायन, बृहस्पति आदि तथा बाद में वाचस्पति मिश्र आदि टीकाकारों ने भारत में प्राचीन काल से मध्य युग के अंत तक प्रचलित न्यायिक प्रणाली और विधिक प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन किया है ।

प्राचीन भारत में न्यायालयों का पदानुक्रम

बृहस्पति स्मृति के अनुसार प्राचीन भारत में न्यायालयों का एक पदानुक्रम था जो कुटुंब न्यायालयों से प्रारम्भ होकर राजा के न्यायालय तक जाता था। सबसे नीचे पारिवारिक मध्यस्थ था। इसके ऊपर न्यायाधीश का न्यायालय था; इसके ऊपर मुख्य न्यायाधीश, जिसे प्राड्विवाक या अध्यक्ष कहा जाता था और सबसे ऊपर राजा का न्यायालय था।[9]

प्रत्येक न्यायालय का क्षेत्राधिकार विवाद के महत्व से निर्धारित होता था, छोटे विवादों का निर्णय निम्नतम न्यायालय द्वारा और सबसे महत्वपूर्ण विवादों का निर्णय राजा द्वारा किया

---

[8] धर्मस्थास्त्रयस्त्रयोऽमात्या जनपद सन्धि संग्रहण द्रोण मुख
स्थानीयेषु व्यवहारिकानर्थान् कुर्युः। -अर्थ०३

[9] कुलादिभ्योऽधिका सम्यास्तेभ्योऽध्यक्षः स्मृतोऽधिकः।
सर्वेषामधिको राज्य धर्म्य यत्तेन निश्चितं ।। बृ० १, ९४

जाता था। प्रत्येक उच्चतर न्यायालय का निर्णय निचले न्यायालय के निर्णय का अधिक्रमण कर देता था।[10]

वाचस्पति मिश्र के अनुसार, "राजा के निर्णय से समाप्त होने वाले इन न्यायाधिकरणों के निर्णयों का बाध्यकारी प्रभाव आरोही क्रम में है और विद्वता व ज्ञान के उच्च स्तर के कारण प्रत्येक पश्चात् वर्ती निर्णय पूर्ववर्ती निर्णय पर प्रभावी होगा।"[11]

यह उल्लेखनीय है कि आज भी भारतीय न्यायपालिका में न्यायालयों का पदानुक्रम उक्त सिद्धांत पर ही गठित है- ग्राम न्यायालय, मुन्सिफ़, सिविल जज, ज़िला न्यायाधीश, उच्च न्यायालय और अंत में सर्वोच्च न्यायालय, जो राजा के न्यायालय के स्थान पर है । हम अनजाने में एक प्राचीन परंपरा पालन कर रहे हैं ।

यहाँ कुटुंब न्यायाधीशों की व्यवस्था उल्लेखनीय है। समाज की इकाई संयुक्त परिवार थी, जिसमें चार पीढ़ियाँ हो सकती थीं। परिणामतः, संयुक्त परिवार के सदस्यों की संख्या कभी-कभी बहुत अधिक भी हो सकती थी और उनके विवादों का निस्तारण सहानुभूति और चातुर्य के साथ दृढ़तापूर्वक किया जाना आवश्यक था। यह भी अपेक्षित था कि प्राथमिक स्तर पर विवादों का निस्तारण परिवार के भीतर ही एक मध्यस्थ द्वारा किया जाए। आधुनिक जापान में परिवार न्यायालयों की कुछ ऐसी ही व्यवस्था है। कुटुंब न्यायालयों का उल्लेख करने का अभिप्राय यह है कि उक्त न्यायिक प्रणाली का मूल सामाजिक व्यवस्था में था, जो इसकी सफलता का कारण है।

न्याय का मूल स्रोत शासक था। भारतीय न्यायशास्त्र के अनुसार न्याय करना और दण्ड देना संप्रभुता के प्राथमिक लक्षण थे।[12]

प्रारंभ में यह आशा की जाती थी कि न्याय का मूल स्रोत होने के कारण राजा व्यक्तिगत रूप से, परंतु पूर्णतः विधि अनुसार और विधिवेत्ता न्यायाधीशों के मार्गदर्शन में, न्यायिक कार्य करेगा।[13]

---

[10] उत्तमाधम मध्यानां विवादानां विचारणात् ।
उपर्युपरि बुद्धीनां चरन्तीश्वर बुद्धयः।। बृ० १, ९६

[11]एतेषां राजान्तानां निर्णयकरणे उत्तरोत्तरस्य बलवत्वं ज्ञानोत्कर्षात् । -व्यवहार चिन्तामणि ३२

[12] स्वास्य ममात्य जनपद दुर्ग कोश दण्ड मित्राणि प्रकृतयः । -अर्थ ० १,९७

[13] यो दंड्यान् दण्ड्येद् राजा सम्यग्वध्यांश्च घातयेत्।
इष्टं स्वात्क्रतुभिस्तेन सहस्र शत दक्षिणैः।। -याज्ञ० १, ३५९
इति संचित्य नृपतिः क्रतुतुल्य फलं पृथक् ।
व्यवहारान् स्वयं पश्येत् सभ्यैः परिवृत्तोऽन्वहं ।। उपरोक्त, I, 360

राजा के लिए निर्धारित न्यायिक आचार संहिता बहुत कठोर थी। यह अपेक्षित था कि वह मामलों का निस्तारण न्यायालय में खुले रूप से सुनवाई करते हुए करे और उसकी वेशभूषा और व्यवहार से वादकारी भयभीत न हों। यह आवश्यक था कि वह निष्पक्षता की शपथ ले और बिना राग-द्वेष के मामलों का निस्तारण करे। कात्यायन कहते हैं : "राजा को शालीन वस्त्रों में न्यायकक्ष में आकर पूर्वाभिमुख आसन ग्रहण करके वादकारियों के वादों को ध्यानपूर्वक सुनना चाहिए।[14] उसे अपने मुख्य न्यायाधीश(प्राड्विवाक), न्यायाधीशों, मन्त्रियों और अपनी परिषद के ब्राह्मण सदस्यों के मार्गदर्शन में कार्य करना चाहिए। इस प्रकार विधि अनुसार न्याय करने वाला राजा स्वर्ग में रहता है।"[15]

ये प्रावधान महत्वपूर्ण हैं। राजा के लिए विनीत-वेश होना आवश्यक था ताकि वादकारी भयभीत न हों। राजा के लिए न्यायाधीश के रूप में कार्य करने हेतु निर्धारित आचार संहिता बहुत कठोर थी और उसके लिए समस्त राग-द्वेष से मुक्त रहना आवश्यक था।[16] नारद कहते हैं: "यदि कोई राजा विधि अनुसार मुकदमों(व्यवहारान्) का निस्तारण करता है और (न्यायालय में) आत्म-संयम बरतता है तो उसमें अग्नि की सात ज्वालाओं की तरह सात गुण मिलते हैं"[17] नारद ने आदेश दिया है कि धर्मासन पर आसीन राजा को विवस्वान(सूर्य) के पुत्र की शपथ लेने के कारण सभी प्राणियों के लिए निष्पक्ष होना चाहिए। (विवस्वान के पुत्र की शपथ निष्पक्षता की शपथ है: विवस्वान के पुत्र मृत्यु के देवता यम हैं, जो सभी जीवों के लिए निष्पक्ष हैं)।[18]

राजा के न्यायाधीश

किसी मामले की सुनवाई के दौरान राजा के मार्गदर्शक न्यायाधीशों और सलाहकारों से अपेक्षित था कि वे स्वतंत्र और निर्भीक हों और उसे कोई त्रुटि या अन्याय करने से रोकें। कात्यायन कहते हैं: "यदि राजा वादकरियों(विवादीनां) पर विधिविरुद्ध या धर्मविरुद्ध निर्णय

---

[14]विनीत वेशो नृपति: सभां गत्व समाहित: ।
आसीन: प्राङ्मुखो भूत्वा पश्येत्कार्याणि कार्यिणां ।। -का० ५५

[15] स तु सम्यै: स्थितैर्युक्त: प्रज्ञामन्तैर्द्विजोत्तमै: ।
धर्मशास्तार्थ कुशलैरर्थशास्त्र विषारदै:।। -का० ५७
सप्राड्विवाक: सामात्य: सब्राह्मण पुरोहित:।।
स सम्य: प्रेक्ष्यको राजा स्वर्गे तिष्ठति धर्मत:।। -का० ५६

[16] राजा धर्म सहायस्तु द्वयोर्विवद मानयो:।
सम्यक् कार्याण्य वेक्षेत राग-द्वेष विवर्जित:।। - ना ० १, ४

[17] धर्मेणोद्धरतो राज्ञो व्यवहारान् कृतात्मन:।
सम्भवन्ति गुण: सप्तवह्नेरिवार्चिष:।। - ना० १, ३२

[18] तस्माद्धर्मासनं प्राप्य राजा विगत मत्सर:।
सम: स्वाद् सर्वभूतेषु विभ्रद वैवस्वतं व्रतं।। -ना ० १, ३४

थोपना चाहता है, तो न्यायाधीश(सम्य) का यह कर्तव्य है कि वह राजा को चेतावनी दे और उसे रोके।"[19]

"राजा का मार्गदर्शक न्यायाधीश उसे ऐसी राय दे जिसे वह विधिसम्मत समझता है; यदि राजा नहीं भी सुनता है तो न्यायाधीश ने कम से कम अपना कर्तव्य तो निभाया।"[20] जब न्यायाधीश को यह अनुभव हो कि राजा साम्य और न्याय के पथ से भटक गया है तो उसका कर्तव्य राजा को प्रसन्न करना नहीं है क्योंकि यह अवसर मृदुभाषिता का नहीं है(वक्तव्यं तु प्रियं नात्र); यदि न्यायाधीश अपने कर्तव्य के पालन में विफल रहता है तो वह दोषी है।"[21]

राजा द्वारा न्यायिक शक्ति का प्रत्यायोजन

सभ्यता के विकास के साथ-साथ राजा के कार्यों में वृद्धि होती गई और उसके पास व्यक्तिगत रूप से मुकदमे सुनने के लिए समय की कमी हो गई और वह अपना अधिकाधिक न्यायिक कार्य अनुभवी न्यायाधीशों को प्रत्यायोजित करने हेतु विवश हो गया। कात्यायन कहते हैं: "यदि काम के दबाव के कारण राजा व्यक्तिगत रूप से मुकदमों की सुनवाई नहीं कर सकता है, तो उसे वेदज्ञ ब्राह्मण को न्यायाधीश के रूप में नियुक्त करना चाहिए।"[22]

न्यायाधीश होने के लिए अत्यंत उच्च कोटि की योग्यताएँ निर्धारित की गई थीं। कात्यायन के अनुसार: "न्यायाधीश को कठोर व संयमी, निष्पक्ष, दृढ़निश्चयी, ईश्वरभीरु, कर्तव्यपरायण, क्रोध से मुक्त, धर्मिष्ठ और कुलीन होना चाहिए।[23]

समय के साथ-साथ एक न्यायिक पदानुक्रम विकसित हुआ जिससे राजा, सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय की शक्तियों को छोड़कर, अधिकांश न्यायिक कार्यों से मुक्त हो गया। जैसा कि ऊपर वर्णित है, मौर्य साम्राज्य में एक नियमित न्यायिक सेवा अस्तित्व में थी।

---

[19] अधर्माज्ञां यदा राजा नियुञ्जीतं विवादीनां।
विज्ञाप्य नृपतिं सम्यस्तदा सम्यङ् निवर्तयेत् ।। -का ० ७४

[20] सम्येनावश्य वक्तव्यं धर्मार्थ सहितं वच:।
श्रृणोति यदि नो राजा स्वात्तु समयस्तदानृण:।। -का ० ७७

[21] न्यायमार्गाद्पेतं तु ज्ञात्वा चित्तं महीपते:।
वक्तव्यं तु प्रियं नात्र स सम्य: किल्वषी भवेत्।। -का ० ७६

[22] यदा कार्यवशाद्राजा न पश्येत्कार्य निर्णयं।
तदा नियुंज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं वेदपारगं ।। -का० ६३

[23] दान्तं कुलीनं मध्यस्थमनुद्वेग करं स्थिरं,
परत्र भीरुं धर्मिष्ठमुद्युक्तं क्रोध वर्जितं।। -का० ६४

न्यायपालिका की विशेषता : सत्यनिष्ठा

अब मैं न्यायपालिका की गुणवत्ता और न्यायाधीशों के लिए निर्धारित आचार संहिता के बारे में कुछ शब्द कहूंगा। न्यायाधीश का सर्वोपरि कर्तव्य सत्यनिष्ठ होना था, जिसमें निष्पक्षता व राग-द्वेष का पूर्ण अभाव सम्मिलित थे। सत्यनिष्ठा की अवधारणा अत्यंत व्यापक थी और सत्यनिष्ठा संबन्धी न्यायिक संहिता बहुत कठोर थी। बृहस्पति कहते हैं: “एक न्यायाधीश को व्यक्तिगत लाभ की इच्छा या किसी पूर्वाग्रह के बिना शास्त्रसम्मत प्रक्रिया के अनुसार मामलों का निर्णय करना चाहिए। इस प्रकार अपने न्यायिक कर्तव्यों का पालन करने वाला न्यायाधीश यज्ञ के फल का अधिकारी होता है।”[24]

न्यायाधीशों की निष्पक्षता सुनिश्चित करने के लिए कठोरतम सावधानियां बरती गईं थीं। विचारण खुले न्यायालय में होना आवश्यक था और वाद लंबित रहते हुए न्यायाधीशों का पक्षकारों से व्यक्तिगतरूपेण बात करना निषिद्ध था क्योंकि यह माना जाता था कि अकेले में सुनवाई करने से पक्षपात हो सकता है। शुक्र नीतिसार के अनुसार : "पांच कारणों से निष्पक्षता नष्ट होती है और न्यायाधीश विवादों में पक्षपात करते हैं। ये कारण हैं- राग, लोभ, भय, द्वेष और एक पक्ष को अकेले में सुनना।"[25]

न्यायिक सत्यनिष्ठा बनाए रखने का एक अन्य उपाय यह था कि वादों की सुनवाई एकल न्यायाधीश द्वारा नहीं की जा सकती थी, भले ही वह राजा ही क्यों न हो। हमारे पूर्वजों ने यह अनुभव किया कि जब दो मस्तिष्क मिलते हैं तो भ्रष्टाचार या त्रुटि की संभावना कम होती है, और उन्होंने यह प्रावधान किया कि मामले निर्णीत करते समय राजा को अपने सलाहकारों के साथ बैठना चाहिए और न्यायाधीशों को विषम संख्या वाली न्यायपीठ में बैठना चाहिए बैठना चाहिए। शुक्र-नीतिसार के अनुसार "न्यायिक कर्तव्यों का निर्वहन करने वाले व्यक्ति वेदज्ञ एवं सांसारिक अनुभव से युक्त होने चाहिए और उन्हें तीन, पांच, या सात के समूहों में कार्य करना चाहिए।"[26]

कौटिल्य ने भी यह कहा है कि वादों की सुनवाई तीन न्यायाधीशों (धर्मस्थस्त्रयः) द्वारा की जानी चाहिए। अंग्रेज़ों द्वारा स्थापित हमारी वर्तमान न्यायिक व्यवस्था में इस उत्कृष्ट सुरक्षा-उपाय को नहीं अपनाया गया है। बचत के उद्देश्य से आज हर मुकदमे की सुनवाई एक मुन्सिफ़

---

[24] लोभ द्वेषाधिकं त्यक्त्वा यः कुर्वात्कार्य निर्णयं।
शास्त्रोदितेन विधिना तस्य यज्ञ फलं भवेत्।। बृ० १, ९८

[25] पक्षपाताधिरोपस्य कारणानि च पञ्च वै।
राग लोभ भय द्वेषा वादिनोश्चरहः श्रुति।। -शुक्र० ४, ५३०

[26] व्यवहारमधुरं वोदुं ये सक्ताः पुङ्गवा इव।
लोक वेदज्ञ धर्मज्ञा सप्त पञ्च त्रयोऽपि।। -शुक्र० ५४८

या सिविल जज या ज़िला जज द्वारा की जाती है। परन्तु प्राचीन भारत में राज्य की रुचि बचत की अपेक्षा न्याय की गुणवत्ता में अधिक थी।

सत्यनिष्ठा

प्रत्येक स्मृति न्यायिक सत्यनिष्ठा के सर्वोच्च महत्व पर बल देती है। शुक्र-नीतिसार के अनुसार : "राजा द्वारा नियुक्त न्यायाधीश प्रक्रिया के अच्छे जानकार, बुद्धिमान, चरित्रवान, उत्तम स्वभाव के, वाणी में मृदु, मित्र या शत्रु के लिए निष्पक्ष, सत्यवादी, विधिवेत्ता , सक्रिय (आलसी नहीं), क्रोध, लोभ, या इच्छा(व्यक्तिगत लाभार्थ) से मुक्त और सत्यवादी होने चाहिए।"[27]

भ्रष्टाचार के लिए सजा

भ्रष्टाचार एक जघन्य अपराध माना जाता था और सभी विशेषज्ञ बेईमान न्यायाधीश को कठोरतम दण्ड देने के विषय में एकमत हैं। बृहस्पति कहते हैं: "यदि एक न्यायाधीश रिश्वत लेकर अन्याय कारित करता है और जनता के विश्वास को तोड़ता है तो उसे राज्य से निर्वासित कर देना चाहिए।"[28] भ्रष्ट न्यायाधीश, झूठा गवाह, और ब्राह्मण का हत्यारा अपराधियों के एक ही वर्ग में आते हैं।[29] विष्णु कहते हैं: "राज्य को एक भ्रष्ट न्यायाधीश की पूरी संपत्ति जब्त कर लेनी चाहिए।"[30] वाद लंबित रहते हुए वादकारियों से अकेले में बात करना भी न्यायिक कदाचार की श्रेणी में आता था। बृहस्पति कहते हैं: "वाद के निर्णय से पूर्व(अनिर्णीते) किसी पक्षकार के साथ व्यक्तिगतरूपेण बातचीत करने वाले न्यायाधीश या मुख्य न्यायाधीश(प्राड्विवाक्) को एक भ्रष्ट न्यायाधीश की तरह दंडित किया जाना चाहिए।"[31]

जूरी के सदस्य(Jurors)

न्यायिक प्रणाली की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता सभासदों या पार्षदों की व्यवस्था थी जो राजा के मूल्यांकनकर्ता या सलाहकार के रूप में कार्य करते थे। एक महत्वपूर्ण अंतर के साथ, वे आधुनिक जूरी के समकक्ष थे। आज की जूरी में आम आदमी - “बारह दुकानदार

---

[27] व्यवहारविद: प्राज्ञा वृत्तिशीला गुणान्वित:।
रिपौ मित्रे समय ये च धर्मज्ञा: सत्यवादिन:।। :
निरालसा जितक्रोध काम लोभा: प्रियं वद:।
राज्ञा नियोजितव्यासते सम्या सर्वासु जातिषु।। -शुक्र० ५३८-५३९

[28] अन्यायवादिन: सम्यास्तथैवोत्कोच जीविन:।
विश्वस्तवञ्चकाश्चैव निर्वास्या सर्व एव ते।। बृ० १, १०७

[29] कूट सम्य: कूट साक्षी ब्रह्महा च समय स्मृता:। बृ० ५,

[30] कूट साक्षीगणां सर्वस्यापहार: कार्य:। उत्कोच जीविनां सम्यानां च । बृ० १, १७९

[31] अनिर्णीते तु यद्यर्थे सम्भाषते रहोऽर्थिन:। बृ० १, १०२

(Twelve shopkeepers)”- होते हैं जबकि शासक के साथ बैठने वाले पार्षदों का विधिवेत्ता होना आवश्यक था। याज्ञवल्क्य कहते हैं: "शासक को अपने न्यायालय के सभासदों के रूप में विधि विशेषज्ञ, सत्यवादी और शत्रु-मित्र हेतु निष्पक्ष व्यक्तियों को नियुक्त करना चाहिए।"[32]

इन सभासदों या ज्यूरर्स से इस सीमा तक निर्भीकतापूर्वक राय व्यक्त करने की आशा की जाती थी कि वे शासक से असहमत होकर उसे आगाह कर सकें कि उसकी राय विधि एवं साम्या के विपरीत है। कात्यायन कहते हैं: “यदि सभासद यह अनुभव करते हैं कि शासक किसी विवाद का निर्णय विधि के विरुद्ध करने हेतु प्रवृत्त है तो उनको मूकदर्शक नहीं रहना चाहिए; यदि वे चुप रहे तो वे राजा सहित नरक जाएंगे।”[33] शुक्र-नीतिसार में भी इसी प्रकार के एक श्लोक (शुक्र० IV, 5-275) में यह आदेश दोहराया गया है।[34] शासक -या उसकी अनुपस्थिति में पीठासीन न्यायाधीश- से यह अपेक्षित नहीं था कि वह जूरी सदस्यों के निर्णय के विपरीत निर्णय देगा वरन उसे उनके परामर्शानुसार ही डिक्री(जय-पत्र) पारित करनी होती थी । शुक्र-नीतिसार के अनुसार: "यह देखने के बाद कि सभासदों ने अपना निर्णय दे दिया है, राजा द्वारा सफल पक्षकार को एक डिक्री(जय-पत्र) देना चाहिए।"[35] सभासदों की तुलना प्रिवी काउंसिल की न्यायिक समिति से की जा सकती है, जो शासक को "विनम्रतापूर्वक सलाह" देती है किन्तु यह सलाह बाध्यकारी है। इसकी तुलना सोवियत न्यायिक प्रणाली के तहत पीपुलस् असेसर्स(People’s Assessors) से भी की जा सकती है, जो पीपुल्स् कोर्ट में अनुभवी न्यायाधीश के साथ बैठते हैं लेकिन उनकी हैसियत उसके बराबर होती है और वे उसके विरुद्ध व्यवस्था दे सकते हैं।

लेकिन एक अपवाद था। यदि किसी कठिन मामले में जूरी सदस्य किसी निष्कर्ष पर पहुंचने में असमर्थ होते थे तो शासक मामले को स्वयं निर्णीत कर सकता था। शुक्र-नीतिसार कहते हैं, "यदि वे(निर्धारक) किसी कठिन या सन्दिग्ध मुद्दों वाले (सन्दिग्धरूपिण:) विवाद का

[32] सुताध्ययन सम्पन्ना धर्मज्ञा सत्यवादिन:।
राज्ञा सभासदा कार्या रिपौ मित्रे च ये समा:।। -याज्ञ० २, २

[33] अधर्मत: प्रवृत्तं हि नोपेक्षरन सभासद:।
उपेक्षमाणा: सनृ नरकं यान्त्यधोमुखा:।। कात्या० ७४

[34] शुक्र, IV, 5475

[35] सम्यादिभिर्निर्मितं विद्धृतं प्रतिवादिन:।
द्रष्ट्वा राजानुजयिने प्रदद्याद् जय पत्रकम्।। -शुक्र० ४, ५३

निर्णय करने में असमर्थ हैं तो ऐसे मामले में शासक अपने विशेषाधिकार का उपयोग करते हुए निर्णय दे सकता है।[36]

आपराधिक परीक्षण

ऐसा प्रतीत होता है कि आपराधिक परीक्षणों में अभियुक्त के दोषी या निर्दोष होने के प्रश्न पर न्यायाधीश या जूरी सदस्यों द्वारा निर्णय किया जाता था किन्तु दण्ड की मात्रा का निर्धारण राजा पर छोड़ दिया जाता था। मृच्छकटिकम्, द लिटिल क्ले कोर्ट, में मुकदमे के दृश्य में, चारुदत्त को वसंतसेना की हत्या का दोषी घोषित करने के बाद न्यायाधीश ने दण्ड के प्रश्न को इस टिप्पणी के साथ राजा को संदर्भित किया कि "चारुदत्त के दोषी या निर्दोष होने के संबंध में निर्णय करने का अधिकार हमारा है और हमारा निर्णय बाध्यकारी(प्रमाणं) है, किन्तु शेष राजा पर है।"[37]

विधि का निर्वचन

निर्वचन के सिद्धान्त अत्यन्त उच्च कोटि तक विकसित हो चुके थे। न्यायाधीशों के लिए आपराधिक और दीवानी मामलों का फैसला विधि(सम्यक, यथाशास्त्रम, शास्त्रोदितेन विधिना) के अनुसार करना आवश्यक था। इसमें विधि के लिखित पाठ का निर्वचन निहित था जिसमें कई समस्याएं होती थीं जैसे - पाठ के अस्पष्ट शब्दों और वाक्यांशों की व्याख्या, एक ही कानून में परस्पर विरोधी प्रावधानों का सामंजस्य, कानून के शब्दों और साम्या, न्याय व विवेक के सिद्धांतों के बीच विरोध का समाधान, रीति-रिवाजों और स्मृतियों का समायोजन इत्यादि। विधि की यह शाखा अत्यधिक विकसित थी और अदालतों के मार्गदर्शन हेतु अनेक सिद्धांत प्रतिपादित किए गए थे। उनमें से सबसे महत्वपूर्ण धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के बीच विरोध से संबंधित है।

न्यायालय द्वारा मौलिक विधि की तीन पद्धतियों को मान्यता दी जाती थी- धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और प्रथा, जिसे सदाचार या चरित्र कहा जाता था। पहली पद्धति में स्मृति से पूर्णतः अनुमोदित विधियाँ आती थीं और दूसरी में शासन के सिद्धांत थे। दोनों के बीच की सीमा रेखा प्रायः परस्पर अतिच्छादित हो जाती थी। लेकिन स्मृति और अर्थशास्त्र के बीच वास्तविक भेद दोनों के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण सदैव ऐहिक रहता है परन्तु धर्म-शास्त्र का दृष्टिकोण हमेशा ऐसा नहीं होता है। वस्तुतः शासन की समस्याओं के प्रति अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण इतना अधिक लौकिक(secular) है कि इसने कुछ लेखकों को यह सिद्धांत विकसित करने के लिए प्रेरित किया कि अर्थशास्त्र(शाब्दिक अर्थ: 'अर्थ' का विज्ञान या भौतिक

---

[36] निश्चेतुं ये न शक्या स्यु: वादा: सन्दिग्धरूपिण:।
सीमाद्यस्तत्र नृपतिः प्रमाणं स्यात् प्रभुर्यत: ।। -शुक्र०

[37] "आर्य चारुदत्त! निर्णये वयं प्रमाणं शेषे तु राजा ।" मृच्छ० ९

कल्याण की खोज) धर्मशास्त्र से विकसित नहीं हुआ था वरन उसके समानांतर एक स्वतंत्र मूल से विकसित हुआ था।

मूल कुछ भी हों, कई मामलों में अर्थशास्त्र और धर्म-शास्त्र के सिद्धान्त परस्पर विरोधी हैं। जब वादों का परीक्षण करते समय यह विरोध उत्पन्न हुआ तो न्यायालयों ने इसका समाधान कैसे किया ? पहला सिद्धांत अविरोध का था : न्यायालय को दोनों के बीच किसी भी स्पष्ट विरोध को हल करने का प्रयास करना चाहिए।[38] (इसे आज सामंजस्यपूर्ण अर्थान्वयन का सिद्धांत कहा जाता है।) परन्तु यदि विरोध का समाधान संभव न हो तो धर्मशास्त्र का आश्रय लिया जाता था। भविष्य पुराण के अनुसार: "जब स्मृति और अर्थशास्त्र में असंगति हो तो अर्थशास्त्र के प्रावधान को(स्मृति द्वारा) अधिक्रमित कर दिया जाता है; परंतु यदि दो स्मृतियों में, या एक ही स्मृति में, दो परस्पर विरोधी प्रावधान हैं तो उस प्रावधान को प्राथमिकता दी जाएगी जो न्याययुक्त है।"[39] नारद स्मृति में भी इसी प्रकार का एक नियम है, जिसमें किसी स्मृति के दो पाठों के बीच विरोध होने पर युक्तियुक्त निर्वचन करने को कहा गया है।[40] परंतु विधि के लिखित पाठ का निर्वचन करते समय न्यायालय को यह ध्यान में रखना होता था कि उसका मौलिक कर्तव्य न्याय करना है न कि लिखित विधि का अनुपालन करना। बृहस्पति ने कहा है : "न्यायालय को केवल शास्त्र के शब्दों का अनुगमन करके अपना निर्णय नहीं देना चाहिए क्योंकि पूर्णतया तर्करहित निर्णय का परिणाम अन्याय(धर्महानि) है।" [41] बृहस्पति आगे कहते हैं कि न्यायालय को देश के रीति-रिवाज़ों के अनुसार निर्णय करना चाहिए भले ही वे लिखित विधि के विपरीत हों; [42] और प्रसंगवश वह अनेक उल्लेखनीय उदाहरण देते हैं, जो समसामयिक सामाजिक परिस्थितियों पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

वह बताते हैं कि दक्षिण के ब्राह्मणों में मामा की बेटी से विवाह मान्य है; मध्य देश(मध्य भारत) में ब्राह्मण भाड़े के मजदूर और शिल्पकार बन जाते हैं और गोमांस खाते हैं; पूर्वी ब्राह्मण मछली खाते हैं और उनकी महिलाएं मदिरापान करती हैं और पुरुष उन्हें रजस्वला होते हुए भी

---

[38] धर्मशास्त्रार्थ शास्त्रयोरविरोधमाश्रित्य विचारणीयम् । -व्यवहारचिन्ता०

[39] स्मृत्यर्थ योर्विरोधे तु अर्थशास्त्रस्य बाधन्।
परस्पर विरोधेतु न्याययुक्तं प्रमाणवत् ।। -भविष्यपुराण

[40] धर्मशास्त्र विरोधेतु युक्तियुक्तो विधि: स्मृतः।
व्यवहारो हि बलवान धर्मस्तेनावहीयते।। ना० १, ४०

[41] केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो कार्य निर्णय:।
युक्तिहीने विचारे तु धर्महानि प्रजायते ।। -बृ०

[42] देश जाति कुलानाञ्च ये धर्मा प्राक् प्रवर्तिता:।
तथैव ते पालनीया प्रजा प्रक्षुभ्य तेऽन्यथा।। - बृ०

छू सकते हैं। इन विनिर्दिष्ट कृत्यों के कारण इन समुदायों को, अपने-अपने देशों में, प्रायश्चित और न्यायिक दंड भुगतने हेतु दायी नहीं बनाना चाहिए।[43]

परिवर्तनशील प्रथाएं : परिवर्तनशील विधियाँ

समाज में प्रथा(आचार, सदाचार, चरित्र) के महत्व को दृष्टिगत रखते हुए सरकार के लिए देश के विभिन्न भागों की प्रथाओं के प्रमाणित अभिलेख को व्यवस्थित रूप से रखना आवश्यक था। कात्यायन कहते हैं: "किसी क्षेत्र में किसी प्रथा के प्रचलन का प्रमाण मिल जाने पर इसे स्थापित(धार्य) मान कर शासक की मुहर के साथ विधिवत रूप से अभिलेख में दर्ज करना चाहिए।"[44] परंतु यदि कालांतर में कोई स्थापित प्रथा न्यायविरुद्ध हो जाती है तो उसे औपचारिक रूप से हटाया भी जा सकता है। वस्तुतः शासक का यह कर्तव्य था कि वह समय-समय पर मृत या सड़ी-गली प्रथाओं को हटाता रहे। कात्यायन कहते हैं: "जब शासक संतुष्ट हो जाए कि कोई प्रथा न्यायतः अनुचित है तो इसे औपचारिक शासकीय आदेश द्वारा उसी प्रकार शून्य घोषित कर देना चाहिए, जैसे इसे स्थापित किया गया था।"[45] इस प्रावधान से पता चलता है कि प्राचीन भारत की न्यायिक और विधिक व्यवस्था किस ऊंचाई तक विकसित थी। सरकार के लिए राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित विधिपूर्ण प्रथाओं के प्रमाणित अभिलेख को व्यवस्थित रूप से रखना आवश्यक था।

प्रायः वाद का निर्णय किसी प्रथा के अस्तित्व के प्रमाण पर निर्भर होता था। नारद कहते हैं, "न्यायिक निर्णय(व्यवहार) के निम्नलिखित आधार हो सकते हैं: (1)धर्म-शास्त्र, (2) (पिछले)न्यायिक निर्णय(व्यवहार) या(3) प्रथा(चरित्र) या (4)संप्रभु के आदेश। प्रत्येक पूर्ववर्ती आधार को पश्चात् वर्ती द्वारा अधिक्रमित किए जाने के कारण इन चारों का प्रभाव उल्टे क्रम में है।[46] अर्थशास्त्र में भी एक ऐसा ही प्रावधान है।

---

[43] मध्यदेशे कर्मकरा शिल्पिनश्च गवाशिनः।
मत्स्यादाश्च नरा पूर्वे व्यभिचाररतः स्त्रियः।। - बृ० ५
उत्तरे मद्यपा नार्यः स्पृश्या नृणाम् रजस्वला ।
अनेन कर्मणा नैते प्रायश्चित्तदभार्हकाः ।। -बृ० ५

[44] देशस्यानुमानेनैव व्यवस्था या निरूपिता।
लिखिता तु सद्य धार्या मौद्रिता राज मुद्रया।। -का०

[45] विरुद्ध न्यायतो वस्तु चरित्रं कल्प्यते नृपैः।
एवं तत्र निरस्येत चरित्रं तु नृपाज्ञया।। -का० ४२

[46] धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्।
चतुष्पाद् व्यवहारोऽयमुत्तरः पूर्वबाधकः।। -ना०

विधि की विकासवादी अवधारणा

इन प्रावधानों का महत्व बहुत अधिक नहीं है। बदलती प्रथाओं के अनुकूल विधि में परिवर्तन करके भारतीय न्यायशास्त्र ने कानून की अवधारणा को एक लौकिक(secular) सामग्री दी। इसके अलावा, इसने विधि की विकासवादी अवधारणा को विकसित किया और निरंकुश, शाश्वत, अपरिवर्तनशील विधि की अवधारणा को खारिज कर दिया। मनु और पाराशर दोनों ने कहा है : "प्रत्येक युग के नियम उसके विशिष्ट चरित्र के अनुसार(युग रूपानुसारत:) होने के कारण, कृतयुग के नियम त्रेता और द्वापर से भिन्न हैं और कलियुग के नियम पिछले सभी युगों से भिन्न हैं।"[47]

साक्ष्य की प्रणाली (साक्ष्य विधि)

साक्ष्य विधि(साक्ष्य की प्रणाली) न्यायिक व्यवस्था की गुणवत्ता की सूचक है। इस सन्दर्भ में भारतीय न्यायिक व्यवस्था किसी भी अन्य प्राचीन व्यवस्था से आगे थी।

प्राचीन समाजों में प्रमाण हेतु प्रकृतिविरुद्ध कठिन तरीकों द्वारा परीक्षण बहुत सामान्य बात थी। इंग्लैंड में यह मध्य युग के आस-पास तक कायम रहा। लेकिन यदि मौखिक या दस्तावेजी साक्ष्य उपलब्ध होते थे तो हमारी न्यायिक प्रणाली में प्रकृतिविरुद्ध कठिन तरीकों का आश्रय लेने पर रोक थी।[48]

वास्तविक कसौटी सत्य का अन्वेषण है

किसी भी न्यायिक प्रणाली की वास्तविक कसौटी अदालतों को सत्य का अन्वेषण करने में सक्षम बनाना है और इस कसौटी पर प्राचीन भारत की स्थिति बहुत ऊपर है। गौतम ने कहा, "विवादों में न्यायालय को साक्ष्य के माध्यम से यह सुनिश्चित करना होता है कि सत्य क्या है और झूठ क्या है।"[49] सभी उपलब्ध साक्ष्य इंगित करते हैं कि प्राचीन भारत में झूठी गवाही देने को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखा जाता था।[50] तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व में मेगस्थनीज से लेकर 7वीं शताब्दी ईस्वी में ह्वेनसांग तक सभी विदेशी यात्रियों ने इस बात की पुष्टि की है कि भारतीयों

---

[47] अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगरूपानुसारतः।। -पराशर व मनु

[48] द्वि प्रकारा क्रिया प्रोक्ता मानसी दैविकी तथा। -बृ० ४, ६
साक्षि लेखानुमानश्च मानसी त्रिविधा स्मृता । बृ० ४, ८
यद्येको मानुषीं ब्रूयादन्यो ब्रूयात्त दैविकीं ।
मानुषी तत्र गृहणीयान् नतु दैविकीं कदाचन ।। कात्या० २१८

[49] विप्रतिपत्तौ साक्षिणी मिथ्या सत्य व्यवस्था । -गौतम० १३, १

[50] A. L. Basham: The Wonder that was India, p. 116.

द्वारा अपने लौकिक संबंधों में सत्य का अभ्यास किया जाता था। मेगस्थनीज ने लिखा, "सत्य का वे बहुत सम्मान करते हैं।"[51] फाह्यान और ह्वेनसांग(जो हर्ष के शासनकाल के दौरान भारत आए थे) ने ऐसे ही विचार व्यक्त किए हैं। जिस सदाचार का एक हजार साल तक अभ्यास किया गया, वह एक परंपरा बन गया।

न्यायालयों की प्रक्रिया और वातावरण झूठ को हतोत्साहित करते थे। शपथ स्वयं न्यायाधीश द्वारा दिलाई जाती थी, न कि आज की तरह किसी चपरासी द्वारा। शपथ दिलाते समय न्यायाधीशों को गवाह के सामने सत्य की एक गुण के रूप में प्रशंसा और झूठी गवाही की एक भयानक पाप के रूप में निंदा करनी होती थी। बृहस्पति कहते हैं, "धर्मशास्त्र में पारंगत न्यायाधीशों को सत्य की प्रशंसा करने वाले और (साक्षी के मन से) असत्य को हटाने वाले शब्दों से उसे संबोधित करना चाहिए।"[52] न्यायाधीशों द्वारा साक्षी को संबोधित करने हेतु कोई विनिर्दिष्ट शब्द नहीं थे, वरन यह उसमें ईश्वर का भय उत्पन्न करने के उद्देश्य से दिया गया एक नैतिक उपदेश होता था। इस बिंदु पर सभी ग्रंथ एकमत हैं।[53] नारद के अनुसार, "न्यायाधीशों को सत्य को महिमामण्डित और असत्य को निन्दित करने वाले उपदेशों के दृष्टान्त देकर साक्षी में श्रद्धायुक्त भय उत्पन्न करना चाहिए।"[54] सभी स्मृतियों ने एकमत से माना है कि न्यायालय के समक्ष मिथ्या साक्ष्य एक जघन्य पाप के साथ-साथ एक गंभीर अपराध भी है।[55] मिथ्या साक्ष्य की आशंका को कम करने हेतु अन्य प्रावधान भी थे। कात्यायन ने बहुत सामान्यबोध का प्रयोग करते हुए कहा कि साक्षियों की परीक्षा में विलम्ब नहीं करना चाहिए – प्रत्यक्षतः इसलिए कि विलम्ब से स्मृति क्षीण हो जाती है और कल्पना को बढ़ावा मिलता है। "शासक को साक्ष्य अंकित करने में किसी विलम्ब की अनुमति नहीं देनी चाहिए, क्योंकि विलम्ब से बहुत हानि होती है और साक्षी धर्म से दूर हो जाते हैं।"[56]

---

[51] Ancient India as described by Magasthenes and Arian, by Mc. Rindle, p.6.

[52] सत्य प्रशंसा वचनैरन्नृतं तस्यापवर्जनैः।
सम्यैः संबोधनीयाश्च धर्मशास्त्र प्रवेदिभिः।।

[53] Manu, VIII, 79-87; Narada I, 200-228, katyayana, 388-390; Yajna-II, 273-74

[54] पौराणधर्म वचनैः सत्य माहात्म्य दर्शनैः।
अनृतस्यापवादैश्च मृशमुत्त्रासयेदपि।। -नारद० १, २००

[55] Brihaspati V, 34; Manu VIII, 80-87; Yajna II, 73-74; Narada I, 220-238; Baudh I, 13, 14, 19.

[56] न काल हरणं कार्यं राज्ञा साक्षि प्रभाषणे।
महान दोषो भवेत्कालाद्धर्मव्यावृति लक्षणः।। - कात्या० ३५९

प्रशासनिक न्यायालय

प्राचीन भारत की न्यायिक प्रणाली का एक महत्वपूर्ण भाग आपराधिक क्षेत्राधिकार वाले विशेष न्यायालय- कण्टकशोधन न्यायालय- थे। अर्थशास्त्र के अनुसार, "तीन आयुक्त (प्रदेष्टारा:) या तीन मंत्री अशान्त क्षेत्र में शान्ति स्थापना के उपाय करेंगे (कण्टकशोधनं कुर्यु:)।[57] अर्थशास्त्र के अनुसार उक्त न्यायालय न केवल राज्य के विरुद्ध अपराधों का संज्ञान लेते थे वरन् वे कर्मचारियों द्वारा अपने आधिकारिक कर्तव्यों के निर्वहन में किए गए विधि के उल्लंघन का भी संज्ञान लेते थे। अतः यदि व्यापारी ग़लत वज़न तोलते या मिलावटी माल बेचते या अत्यधिक कीमत वसूलते, यदि कारखाने में श्रमिक को उचित से कम वेतन दिया जाता या वह अपना काम ठीक से नहीं करता तो दोषियों को दण्डित करने के लिए कण्टकशोधन न्यायालय हस्तक्षेप करते थे। कदाचार के आरोपित अधिकारी, चोरी, डकैती और यौन अपराधों के अभियुक्त इसी न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत होते थे। इन न्यायालयों में प्रशासनिक न्यायालयों की सभी विशेषताएं थीं। अर्थशास्त्र के चौथे भाग में एक प्रशासनिक संहिता के अस्तित्व का संकेत मिलता है।

प्रशासनिक संहिता

प्राचीन भारत में राज्य में वाणिज्य और उद्योग से सम्बन्धित एक बहुआयामी सार्वजनिक क्षेत्र था। हमारे पूर्वजों को यह आधुनिक पूंजीवादी धारणा मूर्खतापूर्ण लगती कि कोई उद्योग राज्य द्वारा संचालित नहीं होना चाहिए। मौर्य साम्राज्य के अंतर्गत एक राजकीय व्यापारिक नौ-बेड़ा, एक राजकीय वस्त्र उद्योग, एक राजकीय खनन उद्योग और एक राजकीय व्यापार विभाग थे, जिनके प्रभारी क्रमशः नावाध्यक्ष, सूत्राध्यक्ष, अकाराध्यक्ष और वाणिज्य अधीक्षक थे। प्रत्येक राजकीय उद्योग अपने नियमों से नियंत्रित होता था और सभी नियम अर्थशास्त्र में संकलित और वर्गीकृत किए गए हैं और इन्हें एक प्रशासनिक संहिता माना जा सकता है। मैं कुछ दृष्टांत दूंगा।

अर्थ-शास्त्र में समुद्री और तटवर्ती नौवहन के नियम निर्धारित करने वाली एक पूर्ण प्रशासनिक संहिता की व्यवस्था है। इसमें कहा गया है कि राज्य में एक नावाध्यक्ष होगा, जिसके कर्तव्य इस प्रकार परिभाषित किए जाते हैं : "नावाध्यक्ष न केवल महासागरों और नदियों के मुहानों पर, बल्कि प्राकृतिक या कृत्रिम झीलों पर और स्थानीय और अन्य दुर्गयुक्त नगरों के आसपास भी नौवहन से संबंधित खातों की जांच करेंगे।"[58] इस अध्याय में जहाज़ों पर पर्याप्त नाविकगण रखने का प्रावधान किया गया है। जहाज़ों की सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए कठोर नियम थे: "बड़ी नदियों, जिन्हें तैरे बिना पार नहीं किया जा सकता है(अतर्य), पर नौवहन हेतु

---

[57] प्रदेष्टारस्त्रयो वाऽमात्या कण्टकशोधनं कुर्यु:। -अर्थ० ४, १

[58] नावाध्यक्षस्समुद्र संयान नदीतर मुखतर प्रचारान्।
देव सरो विसरो नदी तरांश्च स्थानीयादिष्वेक्षेत ।। - अर्थ०

हेमन्त और ग्रीष्म काल में भी बड़ी नावों(महानावों) की व्यवस्था की जाएगी, जिसमें एक कप्तान(शासक), पायलट(नियामक), और दरांती व रस्सियों को पकड़ने तथा नाव के पानी को साफ़ करने के लिए नाविकगण होंगे।"[59]

अर्थ-शास्त्र में ऐसे नियम भी हैं जिनसे यह संकेत मिलता है कि राज्य के व्यापारिक नौ-बेड़े खुले सागरों में चलते थे और इसमें यह प्रावधान है- "राजकीय जहाज़ों से बंदरगाह आने वाले यात्री अपना मार्ग-व्यय(यात्रा वेतनम) अदा करेंगे।"[60] उक्त मार्ग-व्यय की दरें नावाध्यक्ष द्वारा तय की जाती थीं। प्रसंगवश, इस संहिता के अस्तित्व से नि:संदेह यह सिद्ध होता है कि भारतीयों के विदेशों से व्यापक व्यापारिक संबंध थे और वे समुद्र यात्रा किया करते थे।

इसी तरह विदेशों में वस्त्र निर्यात करने वाले वस्त्र व सूती धागे बनाने के विशाल उद्योग के सार्वजनिक और निजी क्षेत्र थे। सार्वजनिक क्षेत्र वस्त्र अधीक्षक(सूत्राध्यक्ष) के अधीन था। उनके अधीन एक बड़ा संगठन था। अर्थशास्त्र में सूत्राध्याक्ष और उसके अधीनस्थ अन्य कर्मचारियों के कर्तव्य बताए गए हैं। इसमें कहा गया है: "बुनाई के अधीक्षक धागों(सूत्र), कवच(वर्म), कपड़ों(वस्त्र), और रस्सियों के निर्माण के लिए योग्य व्यक्तियों को नियुक्त करेंगे।"[61] उनका एक कर्तव्य महिलाओं को उनके अपने घरों में रोज़गार देना था। उनको कपास दिया जाता था और वे धागे बुनती थीं, जो या तो विभाग एकत्र कर लेता था या उन्हें महिलाएं पहुँचा देती थीं। लेकिन इन महिलाओं के साथ स्वतंत्रता लेने या उनका वेतन रोकने के विरुद्ध अर्थशास्त्र में कठोर नियम हैं। इसमें कहा गया है : "यदि अधीक्षक का कोई कर्मचारी ऐसी महिला के चेहरे को घूरता है या उससे काम के अलावा बातचीत करने की कोशिश करता है(या एक अमेरिकन के शब्दों में - makes a pass at her) तो उसे ऐसे दंडित किया जाएगा जैसे वह पहली बार हमले का दोषी हो।"[62] "वेतन के भुगतान में देरी भी दंडनीय होगी।"[63]एक अन्य नियम के अनुसार किसी महिला कर्मचारी पर अनावश्यक कृपा दिखाना एक दंडनीय अपराध था। इस नियम के अनुसार "यदि कोई अधिकारी किसी महिला को बिना काम के मज़दूरी देता है तो वह दण्ड का भागी होगा।"[64]

---

[59] शासक नियामक दात्र रश्मि ग्राहकोत्सेचकाधिष्ठिताश्च।
महा नावो हेमन्त ग्रीष्म तार्यासु महानदीषु प्रयोजयेत।। -अर्थ०

[60] यात्रा वेतनं राजनौभि: सम्पतन्तः। -अर्थ०

[61] सूत्राध्यक्ष: सूत्रवर्म वस्त्ररज्जू व्यवहारं तज्जात पुरुषै: कारयेत्। -अर्थ०

[62] स्त्रिया मुख सन्दर्शनेऽन्य कार्यं संभाषायां वा पूर्व साहस दण्डः।

[63] वेतन कलाति पातने मध्यमः।

[64] अकृत कर्म वेतन प्रदाने च।

कर-संग्रहण और आयात शुल्क

एक संहिता में कर और आयात शुल्क के संग्रह को नियंत्रित करने वाले नियम विहित थे। इस प्रक्रिया के प्रभारी शुल्काध्यक्ष थे। माल आयात करते समय व्यापारियों को सीमा शुल्क विभाग में अपने माल का विवरण देना होता था, जिस पर मुद्रांकन किया जाता था। ग़लत विवरण देने पर अर्थदण्ड निर्धारित किए गए थे। एक नियम में कहा गया है: "अमुद्रित माल पर दोगुना शुल्क देय होगा।"[65] परंतु नकली मुद्रा होने पर व्यापारी पर सामान्य शुल्क का आठ गुना अर्थदण्ड देय होता था।[66] मुद्रा फटी होने पर व्यापारी को आवारा लोगों वाली हवालात में निरुद्ध किया जा सकता था।[67]

अर्थशास्त्र के चौथे खंड में एक प्रशासनिक संहिता में शासन के अन्य विभागों पर नियंत्रण हेतु विस्तृत नियम हैं। इन नियमों को सामान्य न्यायालयों द्वारा नहीं, बल्कि आयुक्तों(प्रदेष्टार:) द्वारा लागू किया जाता था, जो कण्टकशोधन न्यायालयों की भाँति कार्य करते थे।

मेरे अनुसार प्राचीन भारत की न्यायिक प्रणाली के आधारभूत मूल सिद्धान्तों का सार इस प्रकार है: विचारण सदैव खुले रूप से -और अनेक न्यायाधीशों द्वारा सामूहिक रूप से- होता था।[68] अत्यावश्यक मामलों को छोड़कर, सब मामले क्रमानुसार सुने जाते थे।[69] सभी विद्वानों ने मामलों के निस्तारण में होने वाले विलम्ब की निन्दा की है और विलम्ब हेतु दोषी न्यायाधीश दण्ड के भागी होते थे।[70] शासक न्यायपालिका के कार्य में हस्तक्षेप नहीं कर सकता था किन्तु इसके विपरीत न्यायपालिका का यह कर्तव्य था कि वह राजा द्वारा ग़लत (न्यायिक) निर्णय पारित किए जाने पर हस्तक्षेप करे।[71] न्यायाधीशों के लिए निष्पक्ष होना आवश्यक था; जब वाद लंबित होता था तो उनका पक्षकारों से कोई व्यक्तिगत बातचीत करना या संबंध रखना निषिद्ध था। यदि कोई न्यायाधीश पक्षपात या उत्पीड़न करने का दोषी होता या वह निर्धारित प्रक्रिया का जानबूझ कर उल्लंघन करता तो वह दण्ड का भागी होता था। न्यायाधीश द्वारा भ्रष्टाचार करना जघन्यतम अपराध था और भ्रष्ट न्यायाधीश राज्य से निष्कासित कर दिया जाता था तथा उसकी

---

65 अमुद्राणामत्ययो देवो द्विगुण:।

66 कूट मुद्राणां शुक्लाष्ट गुणो दण्ड:।

67 भिन्न मुद्राणामत्ययो घटिका स्थाने।

68 नैक पश्येच्च कार्याणि वादिनो श्रृणुयाद्वच:।
रहसि च नृपः प्राज्ञ: सम्याश्चैव कदाचन।। -शुक्र० ५, ६

69 क्रमगतादि वादांस्तु पशयेद्वा कार्य गौरवात्। -शुक्र० ५, १५७

70 अर्थ०।

71 शुक्र०, पूर्वोक्त।

सारी संपत्ति ज़ब्त कर ली जाती थी। वादों की प्रक्रिया विधि द्वारा निर्धारित थी, प्रत्येक वाद विधिक अपकृत्य के निवारणार्थ प्रार्थना करने वाले पीड़ित पक्ष द्वारा दायर एक परिवाद या वादपत्र द्वारा प्रारम्भ होता था।[72] यदि नागरिक हितबद्ध न हों तो परिवाद हेतु उकसाना या वित्तपोषण करना अथवा उसे दर्ज कराना निषिद्ध था और जयांशभागिता(Champerty) एक दंडनीय अपराध था। इससे बेहतर क्या होगा कि मैं एक आधुनिक अंग्रेज़ी लेखक के मत को उद्धृत कर दूँ : "सैद्धान्तिक रूप से प्राचीन भारत की न्यायिक व्यवस्था कुछ मामलों में हमारे समय से आगे थी।"[73]

भाग ख : मध्यकालीन भारत में न्यायिक प्रणाली

हर्ष के साम्राज्य के विघटन के पश्चात् भारत के इतिहास पर विस्मृति का आवरण पड़ जाता है, जो मुस्लिम आक्रमण तक नहीं उठता। देश एक बार फिर छोटे-छोटे राज्यों में बंट गया। लेकिन इससे उस न्यायिक व्यवस्था में कोई बड़ा बदलाव नहीं आया, जिसने पिछले हज़ारों सालों में अपनी जड़ें जमा ली थीं। राजनीतिक विभाजन के बावजूद प्रत्येक राज्य में न्याय के मानकों और आदर्शों को अनुरक्षित किया गया, सांस्कृतिक एकता का संरक्षण किया गया और विधि तथा प्रक्रिया के मूल सिद्धान्त सम्पूर्ण देश में लागू होते थे। यह इस तथ्य से ज्ञात होता है कि विधि पर मिताक्षरा और शुक्रनीति सार जैसे उत्कृष्ट भाष्य इसी समय लिखे गए, जो अखिल भारतीय स्तर पर मान्य थे। लेकिन भारत में मुस्लिम शासन की स्थापना ने हमारे न्यायिक इतिहास में एक नया अध्याय खोल दिया। मुस्लिम विजेता अपने साथ एक नया मज़हब, नई सभ्यता और नई सामाजिक व्यवस्था लेकर आए। किन्तु न्यायिक प्रणाली पर इसका गहरा प्रभाव नहीं हुआ।

मध्य युगीन विचारों में एक उच्चतम विचार इस्लाम के न्याय का आदर्श था। पैगंबर ने खुद इसके मानक तय किए थे। उन्होंने क़ुरान में कहा, "इन्साफ़ ज़मीन पर अल्लाह का तराज़ू है जिसमें तौलने पर चीज़ें एक ज़र्रे से कम या ज़्यादा नहीं होती हैं। और उसने तराज़ू बनाया कि वज़न का उल्लंघन न हो; इसलिए उचित रूप से तोला जाए और वज़न कम न हो।" आगे

---

[72] स्मृत्याचार व्यपेतेन मार्गेण घर्षित: परै:।

आवेदयदि यद्राज्ञे व्यवहार पदं हि तत् ।। -याज्ञ० २, ५ "When a person who is the victim of a wrong in violation of the smritis and the custom of the realm files a plaint(or complaint) before the sovereign, this is the commencement of a law suit (vyavahara)."

[73] Political Theory of Ancient India: John W. Spellman, Clarendon Press, Oxford, p. 128.

बताया गया है कि उन्होंने कहा है कि अल्लाह के लिए इन्साफ़ करने में बिताया गया एक पल उस शख़्स की इबादत से बेहतर है जो 60 साल तक प्रतिदिन रोज़ा रखता है रात को नमाज़ पढ़ता है।[74] लिहाज़ा, मुस्लिम शासक न्याय करने को एक धार्मिक कर्तव्य मानते थे।

यह उच्च परंपरा पहले चार ख़लीफ़ाओं के समय अपने चरम पर पहुंच गई थी। पहले क़ाज़ी की नियुक्ति ख़लीफ़ा उमर द्वारा की गई थी, जिन्होंने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया था कि कानून सर्वोच्च है और न्यायाधीश को कभी भी शासक के अधीन नहीं होना चाहिए। कहा जाता है कि उनके व एक यहूदी के बीच एक निजी मुकदमा चल रहा था और वे दोनों क़ाज़ी के सामने पेश हुए, जो ख़लीफ़ा को देखकर सम्मान में अपने आसन से उठ खड़ा हुआ। "उमर ने इसे इतनी अक्षम्य दुर्बलता माना कि उन्होंने उसे पद से हटा दिया।"[75] मुस्लिम शासक अपने साथ इन उच्च आदर्शों को भारत ले आए। बदाऊँनी कहते हैं कि सुल्तान मुहम्मद तुग़लक के शासनकाल में क़ाज़ी ने एक ऐसे मानहानि वाद को खारिज कर दिया, जो स्वयं सुल्तान ने शेखज़ादा जामी के ख़िलाफ दायर किया था लेकिन इससे क़ाज़ी को कोई नुकसान नहीं हुआ था। (यद्यपि यह निर्णय सुल्तान को प्रतिवादी को विचारण के बिना ही प्राणदण्ड देने से नहीं रोक पाया)।[76] व्यक्तिगत रूप से सुल्तानों के न्याय के आदर्श बहुत ऊँचे थे। बरनी के अनुसार, बलबन न्याय को संप्रभुता की कुंजी जैसे मानता था "जिसमें संप्रभु की उत्पीड़न मिटाने वाली शक्ति थी।"[77] परंतु दुर्भाग्यवश सुल्तानों के अधीन न्याय प्रशासन अनियमित रहा। इसका कारण यह था कि पूरे सल्तनत काल की मुख्य विशेषता भ्रम और अराजकता थी। कोई भी सुल्तान लंबे समय तक सुरक्षित महसूस नहीं करता था। अपेक्षाकृत कम समय में एक राजवंश दूसरे द्वारा प्रतिस्थापित हो जाता था, और प्रतिस्थापन का तरीका हिंसक था। परिणामतः न्याय की गुणवत्ता बहुत हद तक शासक के व्यक्तित्व पर निर्भर थी।

जैसा कि एक आधुनिक लेखक ने कहा है, अन्य स्थानों की भाँति भारत में भी सम्पूर्ण मध्ययुगीन शासनकाल में स्वेच्छाचारिता के समस्त दोष मौजूद थे - सब कुछ अस्थायी व व्यक्तिगत था और कोई आधारभूत दृढ़ता नहीं थी। प्रशासन में व्यक्तिगत तत्व इतना स्पष्ट था कि शीर्ष स्तर पर कर्तव्य पथ से मामूली सा विचलन होने पर सम्पूर्ण प्रशासन में यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होने लगती थी। यदि शासक शराबी होता तो 'उसके मजिस्ट्रेट सार्वजनिक रूप से

---

[74] फ़ख़रुद्दीन मुबारक शाह, डी० रॉस द्वारा सम्पादित, पृष्ठ 12.

[75] अब्दुल रहीम : द प्रिन्सिपल्स् ऑफ़ द मोहम्मडन ज्यूरिसप्रुडेन्स, पृष्ठ 21.

[76] बदाऊँनी : मुंतखाब-उत्-तवारीख़, एम० बी० अहमद द्वारा 'एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ़ जस्टिस इन द मीडिएवल इण्डिया' में उद्धृत, पृष्ठ 278.

[77] बरनी : तारीख़-ए- फ़िरोजशाही, पृष्ठ 77.

नशा करते पाए जाते थे।'[78] सुरक्षा के अभाव में न्याय असंभव है और भारतीय सुल्तान कभी नि:शंक न रह पाए। परिणामतः, शासन के लोकतांत्रिक आदर्श की इस्लामिक अवधारणा भारत में धुंधली ही रही।[79] सहस्रों वर्ष से सुस्थापित प्राचीन भारत की न्यायिक परंपराओं के विपरीत, जिन्हें राजनीतिक मतभेद भी निर्मूल न कर सके, सल्तनत काल में न्याय के इस्लामिक आदर्श भारत में स्थापित परिपाटी का रूप न ले सके।

मुग़ल साम्राज्य में देश में कुशल शासन व्यवस्था थी जिसके परिणामस्वरूप एक न्याय प्रणाली विकसित हुई। न्यायिक प्रशासन की इकाई क़ाज़ी था, जो ख़लीफ़ा के पद की नक़ल था। प्रत्येक प्रांतीय राजधानी में क़ाज़ी होता था और न्यायिक प्रशासन का मुखिया साम्राज्य का सर्वोच्च क़ाज़ी(क़ाज़ी-उल-कुज़ात) था। इसके अलावा, प्रत्येक शहर और क़स्बे के रूप में वर्गीकृत होने योग्य प्रत्येक ग्राम में काज़ी होता था। सिद्धांततः, एक क़ाज़ी के लिए पवित्र विधि से सुपरिचित पाक साफ़ मुस्लिम विद्वान होना आवश्यक था।[80]

मुग़ल साम्राज्य के महानतम इतिहासकार के अनुसार, "विधि एवं न्याय विभाग का मुख्य दोष यह था कि उच्चतम से निम्नतम स्तर तक न्यायालयों की कोई नियमित व्यवस्था नहीं थी, न ही विभिन्न क्षेत्रों की आवश्यकता के अनुपात में न्यायालयों की व्यवस्था थी। स्वाभाविक रूप से देश में मुकदमेबाजी के अधिकतम मामले(जाति, बड़े-बुज़ुर्गों या ग्राम पंचायतों द्वारा निर्णीत प्रायः हिंदुओं के मामलों को छोड़कर) क़ाज़ी या सदर अदालतों के समक्ष आते थे।[81] "यह दृष्टिकोण अन्य लेखकों द्वारा स्वीकार नहीं किया गया है।"[82]

क़ाज़ी की नियुक्ति के समय शाही दीवान निम्नलिखित शब्दों के साथ उसको प्रभार सौंपता था :

"न्यायपूर्ण बनो, ईमानदार रहो, निष्पक्ष रहो। मुकदमे न्यायालय व सरकारी महकमे में, पक्षकारों की उपस्थिति में सुनो। जहां आप सेवा करते हैं वहाँ के लोगों से उपहार न लें, न ही हर किसी की आवभगत स्वीकार करें। अपने फ़रमानों, बिक्री-पत्रों, रेहन-नामों और अन्य कानूनी दस्तावेज़ों को बहुत सावधानी से लिखें ताकि चतुर व्यक्ति उनमें कमियाँ ढूँढ़ कर आपको शर्मिंदा

---

78 The Administration of Justice in Medieval india, by M. B. Ahmad p. 272, quoting Briggs, Rise of the Mohammedan Power in India, Volume I, p. 274.

79 पूर्वोक्त, पृष्ठ 273.

80 Encyclopedia of Islam, Vol. II, page 606.

81 मुग़ल ऐडमिनिस्ट्रेशन, सर जदुनाथ सरकार, पृष्ठ 108.

82 ऐडमिनिस्ट्रेशन ऑफ़ जस्टिस इन मीडिएवल इण्डिया : एम० बी० अहमद

न कर सकें। अभाव(फ़क्र) को अपना आभूषण(फ़ख़्र) मानें।"[83] परन्तु पर्यवेक्षण और मान्य परंपरा के अभाव में इन महान आदर्शों का पालन नहीं किया गया। सरकार के अनुसार, "कुछ गौरवशाली अपवादों के सिवाय, मुगल काल के सभी क़ाज़ी रिश्वत लेने के लिए कुख्यात थे।[84] न्याय का मूल स्रोत बादशाह था। वह प्रत्येक बुधवार को अदालत लगाता था और व्यक्तिगतरूपेण चुने हुए कुछ मामले निपटाता था परन्तु वह मौलिक क्षेत्राधिकार वाले न्यायालय के रूप में नहीं, वरन सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय के रूप में कार्य करता था। इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि अकबर से औरंगज़ेब तक सभी बादशाहों ने अपने न्यायिक कार्य को गंभीरता से लेकर अपने कर्तव्यों का निर्वहन किया। जहांगीर के समय यह प्रवृत्ति विशेषरूपेण अभिव्यक्त हुई और उसकी सोने की ज़ंजीर इतिहास प्रसिद्ध हो गई। जदुनाथ सरकार के अनुसार, भारतीय-मुस्लिम कानून की कमज़ोरी यह थी कि इसके तीनों स्रोत भारत के बाहर थे।

"किसी भारतीय सम्राट या क़ाज़ी का कोई निर्णय कभी इतना प्रामाणिक नहीं माना गया कि वह क़ुरान की किसी अस्पष्टता को स्पष्ट करने हेतु कोई कानूनी सिद्धांत निर्धारित कर सके या क़ुरान में स्पष्टरूपेण अभिव्यक्त न हुए मामलों में उसकी स्पष्ट मंशा का अनुसरण करके क़ुरान के कानून का पूरक बन सके। अतएव भारतीय क़ाज़ियों के लिए मान्यताप्राप्त अरबी लेखकों द्वारा संकलित इस्लामिक विधि और पूर्व निर्णयों का संग्रह रखना आवश्यक हो गया था। ....अतः अरब या मिस्र के विधिशास्त्रीय चिन्तन के बदलाव प्रतिबिम्बित करने के सिवाय भारत में मुस्लिम कानून विकसित और परिवर्तित नहीं हुआ।"[85] औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद मुग़ल साम्राज्य दो पीढ़ियों के अन्दर ही सिमट गया। प्रांतीय गवर्नरों और फौजदारों ने स्वयं को संप्रभु घोषित कर दिया और वे अपने नाम से अपराधों के लिए सजा देने लगे। सम्राटों की शक्ति हड़पने का एक अवशेष आज भी आपराधिक वादों हेतु प्रयुक्त संज्ञा 'फौजदारी' के रूप में मौजूद है।

अंग्रेज़ों की बंगाल विजय के पश्चात् मुग़ल न्याय व्यवस्था को ब्रिटिश न्याय व्यवस्था द्वारा प्रतिस्थापित करने की प्रक्रिया शुरु हुई। लेकिन इसमें काफ़ी समय लगा। वस्तुतः सद्र-ए-दीवानी अदालत तब तक कार्यरत रही जब तक कि उच्च न्यायालय ने उसका स्थान नहीं ले लिया।

मुग़ल न्यायिक प्रणाली ने वर्तमान व्यवस्था पर अपनी छाप छोड़ी है और हमारी विधिक शब्दावली का एक बड़ा हिस्सा इससे उधार लिया गया है। हमारे प्रारम्भिक स्तर के

---

[83] Manual of Officers Duties, a Persian Mss. Quoted by Sir Jadunath Sircar, p. 27.

[84] उपरोक्त, पृष्ठ 27.

[85] Manual of Officers Duties, a Persian Mss. Quoted by Sir Jadunath Sircar, p. 115. आज भारतीय विधि व्यवस्था भी इसी तरह की कमज़ोरी से ग्रस्त है क्योंकि इसका सैद्धांतिक आधार भारत के बाहर है

दीवानी न्यायालय को मुन्सिफ़, वादी व प्रतिवादी को मुद्दई व मुद्दालेह कहा जाता है और अनेक अन्य विधिक शब्द हमें मुग़ल साम्राज्य के महान दिनों की याद दिलाते हैं।

भाग ग : आधुनिक न्यायिक प्रणाली

अब मैं हमारी आज की न्यायिक प्रणाली का अति संक्षिप्त विवरण दूंगा। उच्चतम न्यायालय के अलावा, भारत में संयुक्त राज्य अमेरिका की तरह कोई संघीय न्यायपालिका नहीं है। प्रत्येक राज्य की अपनी न्यायपालिका है, जो संघ और राज्य, दोनों की विधियों से सम्बन्धित न्याय-प्रशासन देखती है। मौर्य साम्राज्य की भाँति, राज्य के प्रत्येक ज़िले में न्यायिक अधिकारियों का एक पदानुक्रम है- मुन्सिफ़, सिविल जज, सिविल और सेशन जज, जिनमें ज़िला जज मुखिया के रूप में होता है। मैं हमारी राज्य न्यायपालिका के संगठन का विस्तृत विवरण नहीं दूंगा क्योंकि यह इस खंड के एक अन्य लेख की विषय-वस्तु है।

उच्च न्यायालय

राज्य की न्यायपालिका के शीर्ष पर उच्च न्यायालय है। यह अभिलेख(रिकॉर्ड) का न्यायालय है और किसी भी न्यायालय या प्राधिकरण के अधीक्षण के अधीन नहीं है, यद्यपि इसके निर्णय की अपील उच्चतम न्यायालय में हो सकती है। इसमें एक मुख्य न्यायाधीश और भारत के राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृत संख्या में अन्य न्यायाधीश होते हैं। यह संख्या इलाहाबाद उच्च न्यायालय(36)से लेकर असम(3) तक के लिए भिन्न-भिन्न होती है। मुख्य न्यायाधीश न्यायालय के प्रशासनिक कार्यों का प्रभारी होता है और अपने साथी न्यायाधीशों के बीच न्यायिक कार्य वितरित करता है। उच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की नियुक्ति करने में भी उनसे परामर्श किया जाता है। लेकिन न्यायिक कार्य करते समय उसका दर्जा किसी अन्य न्यायाधीश की तुलना में अधिक नहीं है और उसके निर्णयों को किन्हीं दो न्यायाधीशों द्वारा विशेष अपील में उलट दिया जा सकता है, और उसके सहयोगियों द्वारा तीन न्यायाधीशों की पीठ के रूप में कार्य करते हुए उसका निर्णय खारिज किया जा सकता है। किसी न्यायाधीश पर उसका कोई प्रशासनिक नियंत्रण नहीं होता है और उसकी स्थिति को समान लोगों में प्रथम (primus inter pares) के रूप में वर्णित किया जा सकता है।

उच्च न्यायालय सभी अधीनस्थ न्यायालयों के दीवानी और फौजदारी निर्णयों की अपीलों या पुनरीक्षणों की सुनवाई करता है। इसके अलावा, वैवाहिक, कंपनी और वसीयत संबन्धी मामलों में इसका मौलिक क्षेत्राधिकार होता है। संविधान के अनुच्छेद 226 द्वारा सभी उच्च न्यायालयों को एक विशेष अधिकार क्षेत्र प्रदान किया गया था, जो उन्हें बंदी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus), अधिकार पृच्छा (Quo Warranto), प्रतिषेध (Prohibition), उत्प्रेषण (Certiorari), परमादेश (Mandamus) की रिट (writs)या कोई अन्य आदेश

या निदेश जारी करके नागरिकों के मौलिक अधिकारों और अन्य अधिकारों के उल्लंघन को रोकने हेतु सशक्त करता है। इस शक्ति का प्रयोग करके उच्च न्यायालय राज्य को किसी भी नागरिक के अधिकारों में विधिविरुद्ध हस्तक्षेप करने से रोक सकता है और पहले से किए गए या पारित किसी भी कार्य या आदेश को रद्द कर सकता है। यह संसद या राज्य विधायिका द्वारा पारित किसी नागरिक के मूल अधिकारों का उल्लंघन करने वाले किसी कानून को अमान्य घोषित कर सकता है। अनुच्छेद 266 के अंतर्गत उपलब्ध यह उपचार अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुआ है और प्रतिवर्ष संपूर्ण भारत में नागरिकों द्वारा अपने अधिकारों की सुरक्षा के लिए हज़ारों याचिकाएं दायर की जाती हैं। केवल उत्तर प्रदेश राज्य में एक वर्ष में तीन हज़ार से अधिक याचिकाएं दायर की जाती हैं।

उच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। उच्च न्यायालय की पीठ में नियुक्ति आंशिकरूपेण अधिवक्ताओं में से और आंशिकरूपेण न्यूनतम पांच वर्ष के ज़िला न्यायाधीशों की पदोन्नति द्वारा होती है। अपने कार्यकाल के दौरान उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को कार्यकाल की पूरी सुरक्षा प्राप्त होती है जो न्यायिक स्वतंत्रता की नींव है। किसी न्यायाधीश को एक उच्च न्यायालय से दूसरे में स्थानांतरित किया जा सकता है, लेकिन व्यवहार में संबंधित न्यायाधीश की इच्छा के अलावा कोई स्थानांतरण नहीं हुआ है।

न्यायाधीशों की स्वतंत्रता

न्यायिक स्वतंत्रता का सिद्धान्त ब्रिटिश विधि से उत्पन्न नहीं हुआ। जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह प्राचीन भारत में पूर्णतः ज्ञात था और प्रचलित था। कात्यायन और अन्य सभी विधि निर्माताओं(जिनके अनुदेश ऊपर उद्धृत किए गए हैं) ने न्यायाधीशों की स्वतंत्रता पर बल दिया है और उनके राजा से भी न डरने को अत्यावश्यक बताया है। न्यायाधीशों के निश्चित कार्यकाल के अंग्रेज़ी सिद्धांत को भारत के संविधान में अपनाया गया है और उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश को केवल साबित कदाचार या अक्षमता के आधार पर राष्ट्रपति को संबोधित प्रस्ताव के संसद के प्रत्येक सदन से दो-तिहाई बहुमत से पारित होने के बाद ही हटाया जा सकता है(अनुच्छेद 124 और 217)।

उच्चतम न्यायालय और राष्ट्रीय एकता

भारतीय इतिहास में पहली बार 1950 में संविधान में सम्पूर्ण भारत के लिए एक उच्चतम न्यायालय की व्यवस्था की गई। अखिल भारतीय क्षेत्राधिकार वाले इस न्यायालय की स्थापना से गणतंत्र के प्रत्येक भाग में सामान्य विधि के द्रुत गति से विकसित होने की संभावना है। संविधान के अनुच्छेद 141 में कहा गया है कि "उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित विधि भारत के सभी न्यायालयों पर बाध्यकारी होगी।" यह हमारे उच्चतम न्यायालय की राय को एक

संवैधानिक शक्ति प्रदान करता है। राष्ट्रीय एकता की स्थापना में न्यायिक प्रक्रिया एक प्रभावी हथियार हो सकती है। इंग्लैंड में अदालतें अंग्रेज़ों के लिए एक सामान्य कानून(Common Law) बनाने के लिए सबसे प्रभावी हथियार रही हैं। इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि उच्चतम न्यायालय अनुच्छेद 141 द्वारा प्रदत्त शक्ति के अन्तर्गत पारित अपने निर्णयों और राय से पूरे भारत के लिए एक सामान्य विधि स्थापित करने की प्रक्रिया को तेज़ करेगा।

न्यायपालिका ने अपनी प्राचीन परंपराओं को बनाए रखा है

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय न्यायपालिका ने न्यायिक स्वतंत्रता और सत्यनिष्ठा की प्राचीन भारतीय परंपरा को अक्षुण्ण रखा है। सर्वोच्च न्यायालय ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है और न्यायिक स्वतंत्रता के मामले में यह विश्व में किसी से कम नहीं है। उच्च न्यायालयों ने भी, कुल मिलाकर, उच्च स्तर की न्यायिक स्वतंत्रता बनाए रखी है और न्यायाधीशों द्वारा कार्यपालिका का पक्ष लेने के मामले दुर्लभ हैं। सर्वाधिक प्रशंसा तो हमारी अधीनस्थ न्यायपालिका -मुन्सिफों, सिविल जजों और ज़िला न्यायाधीशों- की होनी चाहिए, जिन्होंने विभिन्न समुदायों और जातियों के नागरिकों के बीच निष्पक्ष न्याय किया है और जिनका रिकॉर्ड ब्रिटिश न्यायाधीशों की तुलना मे बहुत अच्छा है, जो भारतीय और ब्रिटिश वादकरियों के बीच निष्पक्ष नहीं रहते थे। भारतीय न्यायाधीश बृहस्पति के इस अनुदेश पर खरे उतरे हैं कि न्यायाधीश को व्यक्तिगत लाभ के उद्देश्य या पूर्वाग्रह या दुर्भाव के बिना मामले निस्तारित करने चाहिए और उसके निर्णय शास्त्रोक्त विधि के अनुसार होने चाहिए।

हमारी न्यायिक प्रक्रिया की कमज़ोरी

हमारी न्यायिक प्रक्रिया की सबसे बड़ी कमज़ोरी यह है कि इसका सैद्धांतिक आधार नहीं है। न्यायिक प्रक्रिया पर न्यायविदों के सिद्धांतों का गहरा प्रभाव होता है, यद्यपि यह अदृश्य होता है और अवचेतन स्तर पर होता है। एक महान अमेरिकी न्यायाधीश, ओलिवर वेंडेल होम्स(Oliver Wendell Homes) ने लिखा, "लोगों को शासित करने वाले नियम निर्धारित करते समय न्याय की अपेक्षा उस समय अनुभूत प्रकट या अप्रकट आवश्यकताएं, प्रचलित नैतिक व राजनीतिक सिद्धांत, सार्वजनिक नीति की संस्थाएं और यहां तक कि वे पूर्वाग्रह, जिन्हें न्यायाधीश अपने साथियों के साथ साझा करते हैं, अधिक महत्वपूर्ण होते हैं।" एक अन्य महान अमेरिकी न्यायाधीश, बेंजामिन कॉर्डोज़ो (Benjamin Cordozo) ने कहा, "तर्क, इतिहास व प्रथा, उपयोगिता और सदाचार के स्वीकृत मानदण्ड ऐसे प्रभाव हैं, जो अकेले या मिलकर कानून की प्रगति को आकार देते हैं।"[86] रोस्को पाउंड(Roscoe Pound) का

[86] Nature of the Judicial Process (1921) Cordozo, pp. 133-11 quoted by Roscoe

भी यह विचार है कि "यद्यपि ऐसा शायद ही कभी जानबूझ कर किया जाता हो, लेकिन प्रचलित नैतिक विचार और नैतिक रीति-रिवाज़ निरन्तर चलते रहते हैं। "[87] भारत के उच्चतम न्यायालय ने यह अवधारित किया है कि किसी मूल अधिकार पर प्रतिबंध के औचित्य का निर्धारण करते समय तर्कसंगतता तत्वहीन रही है और इसमें तत्कालीन परिस्थितियों, सामाजिक दर्शन और निर्णय करने वाले न्यायाधीशों की मान्यताओं की भूमिका अपरिहार्यतः महत्वपूर्ण रही है।[88] प्राचीन भारत में न्यायाधीशों को ज्ञान(विद्या) की सभी शाखाओं के साथ-साथ न्यायशास्त्र और अर्थशास्त्र में पारंगत होने की आवश्यकता थी(धर्म-शास्त्रार्थ कुशलैरर्थशास्त्र विशारदैः) ।[89] परन्तु आज क्या स्थिति है ? आज भारतीय न्यायाधीशों का आधारभूत विधिक और सामाजिक दर्शन क्या है ?

इंग्लैंड, पश्चिमी यूरोप और संयुक्त राज्य अमेरिका में न्यायाधीश और वकील अपनी-अपनी संस्कृति के विधिशास्त्र से निरंतर प्रेरणा और शिक्षा प्राप्त करते हैं, जो बीस शताब्दियों से विकासशील है। इसी प्रकार, यू.एस.एस.आर. में न्यायिक प्रक्रिया मार्क्सवादी विधिशास्त्र से पोषण प्राप्त करती है जो लगातार विकसित हो रहा है। लेकिन भारतीय न्यायाधीश या वकील को इसकी प्रेरणा कहां से मिलती है ? अपनी संस्कृति के विधिशास्त्र से नहीं। वह रोमन कानून और पश्चिमी न्यायविदों के सिद्धांतों के बारे में तो कुछ जानता है परन्तु अपनी संस्कृति के कानून और न्यायशास्त्र के विकास के बारे में अल्पज्ञ ही है। एक भारतीय विश्वविद्यालय में विधि की उपाधि के पाठ्यक्रम में भारतीय न्यायशास्त्र या प्राचीन भारत में राज्य के सिद्धांत या भारतीय विधि का इतिहास शामिल नहीं है। परिणामतः, हमारी न्यायिक व्यवस्था के भवन का सैद्धांतिक आधार नहीं है या यह अन्य स्थानों पर अन्य संरचनाओं को सहारा देने वाले आधार पर खड़ा है। उदाहरणार्थ, मैं उच्चतम न्यायालय के एक हालिया फ़ैसले का हवाला दे सकता हूँ, जिसमें सरकारी गतिविधियों और राजकीय वाणिज्यिक उपक्रमों, जिनका (यह अवलोकित किया गया था-) “सरकारी गतिविधियों की पारंपरिक अवधारणा से कोई संबंध नहीं है”, के बीच अंतर करने को कहा गया था।[90] अतएव, पारंपरिक अवधारणा का अर्थ है परंपरानुसार अवधारणा। लेकिन कौन सी परंपरा : भारतीय या ब्रिटिश या अमेरिकी ? लेकिन, जैसा कि मैंने पहले ही संकेत दिया है कि भारत में राज्य में चिरकाल से सार्वजनिक क्षेत्र(Public Sector) का अस्तित्व रहा है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता है कि राजकीय वाणिज्यिक उद्यमों का

Pound in Jurisprudence (1949), Vol. 3, p. 470.

[87] Jurisprudence, Vol. I, p. 474.

[88] वी० जी० राव प्रति मद्रास राज्य ए आई आर 1952 मद्रास 297.

[89] कात्यायन, 57.

[90] कस्तूरी लाल प्रति उत्तर प्रदेश राज्य, ए आई आर 1965 सुप्रीम कोर्ट 1039; 1965(I) एस सी ए 809.

सरकारी गतिविधियों की भारतीय पारंपरिक अवधारणा से कोई संबन्ध नहीं है। उच्चतम न्यायालय का उक्त अवलोकन ब्रिटिश या अमेरिकी अवधारणा पर आधारित है, न कि किसी भारतीय पारंपरिक अवधारणा पर ! इसके अलावा, हमारी दंड संहिता के नैतिक और सैद्धांतिक आधार भी विदेशी हैं। उदाहरणार्थ, मनु ने लोकनिन्दा को भी दंड का एक रूप माना है।[91] यह प्रावधान सोवियत आपराधिक संहिता द्वारा अपनाया गया है[92]; परन्तु मैकाले द्वारा विरचित भारतीय दंड संहिता में यह पूर्णतया उपेक्षित है, यद्यपि कई मामलों में यह एक प्रभावशाली दण्ड हो सकता है। स्पष्ट है कि भारतीयों की अपेक्षा सोवियत विधिवेत्ता भारतीय न्यायशास्त्र का अधिक सम्मान करते हैं।

आज भारत में विधि और न्यायशास्त्र के अध्ययन के निम्न स्तर से बहुत बड़ी समस्या उत्पन्न हो गई है। एक ओर, हमारे उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय को संविधान की व्याख्या करने और राज्य के किसी कानून या अधिनियम को इस आधार पर अमान्य घोषित करने की शक्ति प्रदान की गई है कि वह असंवैधानिक या अवैध है या नागरिकों के मूल अधिकारों को प्रतिबन्धित करता है। उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित कानून का सम्पूर्ण भारत में एक बाध्यकारी वर्चस्व है और इसकी अपीलीय शक्तियां विश्व के किसी अन्य संघीय न्यायालय की तुलना में अधिक व्यापक हैं। संविधान की व्याख्या और आर्थिक प्रगति के साथ विधि के शासन का समायोजन करने हेतु हमारे न्यायाधीशों में विधिशास्त्र व समाजशास्त्र का गहन ज्ञान और न्यायिक प्रक्रिया में सामाजिक विकास के सिद्धान्त लागू करने की क्षमता होना आवश्यक है।[93] दूसरी तरफ़, हमारे विश्वविद्यालयों और विधि विद्यालयों में विधिक शिक्षा का स्तर बहुत ख़राब है। ख़राब कानूनी शिक्षा निम्नस्तरीय न्यायविदों और न्यायाधीशों का निर्माण करती है। हमारे भविष्य के न्यायाधीशों की शक्ति और बौद्धिक तैयारी के बीच वर्तमान असमानता एक ऐसी समस्या पैदा करती है जिसे राज्य केवल अपने जोखिम पर ही अनदेखा कर सकता है।

मैं अपने विश्वविद्यालयों में पाश्चात्य तथा सोवियत विचारों व ज्ञान की सर्वोत्तम शिक्षा देने का समर्थन करता हूँ। परन्तु भारतीय विधिशास्त्र और राजनीतिक दर्शन की लगभग पूर्ण उपेक्षा के कारण प्रत्येक भारतीय वकील और न्यायाधीश की शिक्षा अधूरी है। मैं इस निष्कर्ष

---

[91] वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद् धिग्दण्डं तदनन्तरं ।
तृतीयं धन दण्डं तु वध दण्डमत: परम ।। मनु० ८, १२९।

[92] Article 21, Fundamental Criminal Code of U.S.S.R.

[93] हमारे प्राचीन न्यायविदों ने विधि की विकासवादी अवधारणा विकसित की थी और यह वैज्ञानिक सत्य समझ लिया था कि कानूनों को सामाजिक परिस्थितियों के साथ बदलना चाहिए:
अन्ये कृतयुगेधर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगरूपानुसारतः।। -पराशर, मनु

पर पहुँचा हूँ कि विधिक अध्ययन का आधार भारतीय न्यायशास्त्र का अध्ययन होना चाहिए और प्रत्येक भारतीय विश्वविद्यालय को इसे विधि स्नातक की उपाधि के अनिवार्य विषय के रूप में शामिल करना चाहिए।

मैं मानता हूं कि भारतीय न्यायशास्त्र की बहुत सी बातें आज पुरानी हो चुकी हैं। लेकिन ऐसा तो न्यायशास्त्र की प्रत्येक प्रणाली के लिए सच है। ग्रीक और रोमन सभ्यताएं गुलामी पर आधारित थीं। 17वीं शताब्दी के अंत तक यूरोप में राजाओं का दैवीय अधिकार कायम था। प्रायः तर्क पर आधारित नियमों व ईसाइयों के परमेश्वर के नियमों को एक ही माना जाता था। यूरोप में विश्वास या उपासना की कोई स्वतंत्रता नहीं थी और अनेक व्यक्ति मतविरुद्धता के अपराध में जीवित जला दिए गए, जिनमें जीन डी 'आर्क(Jeanne D' Arc) भी शामिल हैं, जो आज एक संत के रूप में पूज्य हैं। महिलाओं पर चुड़ैल होने और पुरुषों पर शैतान के साथ संवाद करने के अपराध के मुकदमे चलाकर उन्हें जला दिया गया। कानून और न्याय को बदनाम करने वाली पश्चिमी यूरोप की कुछ अजीबोगरीब बेतुकी बातें भारतीय न्यायशास्त्र में नहीं हैं। सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक यूरोप में जानवरों पर आपराधिक मुकदमे चलाए जा रहे थे। मैं कीटन(keeton) की एलिमेन्टस ऑफ़ जूरिस्प्रुडेन्स से निम्नलिखित दृष्टांत उद्धृत करूंगा।[94] जर्मनी में एक मुर्गे को बाक़ायदा बंदियों के कटघरे में रखा गया था, जो अवज्ञाकारक शेखी मारने का अभियुक्त था। अभियुक्त के वकील अपने पंखों वाले मुवक्किल की बेगुनाही सिद्ध करने में विफल रहे और तदनुसार अभागे पक्षी को नष्ट करने का आदेश दे दिया गया। 1508 में प्रोवेंस(Contes) में कोन्टेस(Contes) के कैटरपिलर पर खेतों को तबाह करने के लिए मुकदमा चला और उन्हें दोषसिद्ध किया गया; 1545 में सेंट जीन डी-मॉरिएन के झींगुरों को भी इसी तरह दोषी ठहराया गया था। 1688 के अंत में, सेवॉय(Savoy) के चैम्बर्ग(Chamberg) के गैस्परी बेली(Gaspari Bailey) ने पशुओं के मुकदमों के कारणों और अभिकथनों के संबन्ध में एक ग्रंथ प्रकाशित किया था। इन बेतुकेपनों का प्राचीन भारत की न्यायिक व्यवस्था में कोई स्थान नहीं है, जो एक ब्रिटिश लेखक के अनुसार "हमारे अपने आज से पहले था।"[95]

अधिकार और कर्तव्य

अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति भारतीय और पश्चिमी न्यायशास्त्र के दृष्टिकोणों में महत्वपूर्ण अन्तर है। दोनों ही पद्धतियों में वे सहसम्बद्ध हैं, लेकिन दोनों पद्धतियों में इनमें से किसी एक पर विशेष बल दिया गया है। भारतीय न्यायशास्त्र में दायित्वों पर बल दिया गया है।

[94] एलिमेन्टस ऑफ़ जूरिस्प्रुडेन्स : कीटन

[95] John W. Spellman, 1964, p.128

वस्तुतः, पूरे अनुशासन पर्व या अर्थशास्त्र में 'अधिकार' शब्द एक बार भी नहीं आता है। भारतीय न्यायशास्त्र उन सिद्धांतों पर आधारित है, जो इस बात पर बल देते हैं कि अधिकार कर्तव्यों के परिणाम हैं। यहां तक कि वाक-स्वातंत्र्य को भी निर्भीकतापूर्वक बोलने का कर्तव्य माना जाता है। दूसरी ओर, पश्चिमी न्यायशास्त्र में यद्यपि प्रत्येक अधिकार के समतुल्य एक कर्तव्य है किन्तु अधिकार -प्राकृतिक या कानूनी- अधिक महत्वपूर्ण हैं। एक में अधिकारों और दूसरे में दायित्वों पर बल देने से विवाह जैसी सामाजिक व्यवस्थाओं पर महत्वपूर्ण प्रभाव हुआ। भारतीय न्यायशास्त्र के अन्तर्गत विवाह अनेक सामाजिक दायित्वों में से एक कर्तव्य था, जिसे हर किसी को निभाना होता था। लेकिन पश्चिमी न्यायशास्त्र के अधिकारों से लगाव के परिणामस्वरूप विवाह ऐसे गठबंधन के रूप में देखा जाने लगा है जिससे प्रत्येक साथी, जितना हो सके उतना, पाने की कोशिश करता है। तलाक की उच्च दर विवाह के 'कर्तव्य' सम्बन्धी पहलू की उपेक्षा का परिणाम है।

भविष्य में भारतीय न्यायपालिका की भूमिका

आने वाली सामाजिक और आर्थिक क्रांति में हमारी न्यायपालिका की क्या भूमिका होगी। न्यायिक प्रणाली शून्य में काम नहीं करती है। न्याय प्रशासन एक सामाजिक कार्य है और न्यायिक प्रक्रिया वृहत्तर सामाजिक प्रक्रिया का एक भाग मात्र होती है। इसलिए न्यायालय सामाजिक उद्देश्यों या -मिस्टर जस्टिस होम्स के शब्दों में- "सामयिक आवश्यकताओं" की अवहेलना या अनभिज्ञता में कार्य नहीं कर सकते। 'Fiat fiat iusticia et peret mundes'(कुछ भी हो जाए, लेकिन न्याय किया जाना चाहिए) की कहावत न्यायाधीशों की निष्पक्षता पर तो ज़ोर देती है लेकिन न्यायपालिका को सामाजिक आवश्यकताओं के प्रति उदासीन होने की अनुमति नहीं देती है।

सिद्धांततः न्यायपालिका विधिनिर्माण नहीं करती ; यह केवल यह बताती है कि विधि क्या है। लेकिन जैसा कि गोथे(Goethe) ने कहा[96], "जीवन के तथ्य अमूर्त सिद्धांतों की अपेक्षा अधिक प्रबल हैं।"

व्यवहारिकतः, शक्ति पृथक्करण के कोरे सिद्धांत की तुलना में न्यायिक प्रक्रिया अत्यधिक जटिल है। विधि की व्याख्या करते-करते न्यायाधीश विधिनिर्माण नहीं कर सकते। कानून की व्याख्या करने की आड़ में संयुक्त राज्य के सुप्रीम कोर्ट ने ऐसे विचार व्यक्त किए हैं, जिन्होंने

---

[96] Grau, teurer freund, ist alle theorie, und grun des lebens goldner baum

(Gray, may friend, is all theory, and ग्green the golden tree of life)- Faust Scene IV.

अमेरिकी लोगों की नियति को प्रभावित किया है । संयुक्त राज्य अमेरिका के एक पूर्व अटॉर्नी-जनरल ने संयुक्त राज्य के सुप्रीम कोर्ट के बारे में लिखा:

"............. इस न्यायालय ने कांग्रेस और कार्यपालिका दोनों को बार-बार निष्प्रभावी और विफल किया है। यह हमारे इतिहास के सबसे गतिशील और लोकप्रिय राष्ट्रपतियों के साथ कटु विरोध की स्थिति में रहा है। जेफरसन ने महाभियोग के साथ इसका प्रतिकार किया; जैक्सन ने इसके अधिकार को नहीं माना ; लिंकन ने मुख्य न्यायाधीश की एक रिट की अवज्ञा की; थियोडोर रूजवेल्ट ने न्यायिक निर्णयों को वापस लेने का प्रस्ताव रखा: विल्सन ने इसकी सदस्यता को उदार बनाने की कोशिश की और फ्रैंकलिन डी. रूजवेल्ट ने इसके 'पुनर्गठन' का प्रस्ताव दिया। यह आश्चर्यजनक है कि यह न केवल अस्तित्व में रहा बल्कि अपने निर्णय की मात्र नैतिक शक्ति के आधार पर इसे संवैधानिक रूढ़ि के स्रोत के रूप में वास्तविक सर्वोच्चता प्राप्त हो गई।

"यह आश्चर्य हैरत में बदल जाता है क्योंकि कालांतर में यह सिद्ध हो चुका है कि जब इसने लोकसम्मत विभागों को चुनौती दी तो सबसे प्रमुख बिन्दु पर इसका निर्णय ग़लत था। ड्रेड स्कॉट मामले में इसका निर्णय युद्ध द्वारा निष्प्रभावी कर दिया गया। सोलहवें संशोधन द्वारा इसका यह निर्णय खारिज कर दिया गया कि संघ द्वारा संरक्षित मुद्रा को कानूनी निविदा नहीं बनाया जा सकता। श्रम और सामाजिक कानून का दमन करने वाले इसके निर्णय अब त्याग दिए गए हैं। न्यू डील कानून के खिलाफ किए गए कई निर्णयों को त्रुटिपूर्ण मानकर उन्हें सुधारा गया। सामाजिक या आर्थिक नीति के विषयों पर न्यायालय द्वारा प्रतिनिधि संस्थाओं का विशेष विरोध न करना सही साबित हुआ है।"[97]

भारतीय संविधान, एक मिश्रण

भारतीय न्यायपालिका की भूमिका को राष्ट्र के सामाजिक उद्देश्यों से अलग करके नहीं देखा जा सकता है। हमारे संविधान ने जनता के सामने पश्चिमी और साम्यवादी जीवन शैली के, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक नियंत्रण के, उत्पादन में अराजकता के उन्मूलन और सरकार में लोकतंत्र के संरक्षण के - एक शब्द में कहें तो राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता के – मिश्रण को प्राप्त करने का महत्वाकांक्षी लक्ष्य निर्धारित किया है। मेरे कहने का तात्पर्य यह न समझा जाए कि सोवियत राज्य में राजनीतिक स्वतंत्रता का या पश्चिमी लोकतंत्रों में आर्थिक प्रगति का अभाव है। भूरे(gray) रंग के बिना मात्र काले और सफेद(black and white) में दुनिया का विभाजन "शीत युद्ध" के लिए अच्छा प्रचार है लेकिन यह सही तस्वीर पेश नहीं करता है। मुख्य अंतर यह है कि बल किस बात पर दिया जाए। सोवियत प्रणाली ने आर्थिक प्रगति को राजनीतिक स्वतंत्रता पर प्राथमिकता दी क्योंकि सोवियत सरकार अब तक एक विशाल, विस्तृत

97 The Struggle for Judicial Supremacy: Jackson.

देश में रहने वाले एक बहुराष्ट्रीय, बहुजातीय, बहुभाषी और बहु-धार्मिक समुदाय को एक आधुनिक औद्योगिक राष्ट्र में बदलने की समस्या से जूझ रही है। आज तथाकथित लोहे के पर्दे(Iron Curtain) के दोनों ओर "आर्थिक नियोजन" और "राजनीतिक लोकतंत्र" की शब्दावली स्वीकार्य है। हमारा संविधान दोनों के मिश्रण को प्राप्त करने का प्रयास करता है। यह संवैधानिक विधि के क्षेत्र में गुटनिरपेक्षता की भावना को दर्शाता है। उद्योग का सामाजिक नियंत्रण भारतीय परंपरा के अनुरूप है। मैंने पहले ही संकेत किया है कि प्राचीन भारत में राज्य में एक विशाल सार्वजनिक क्षेत्र था और अर्थशास्त्र कीमतें बढ़ाने के लिए बाज़ार पर एकाधिकार कर लेने जैसी व्यापारिक रीतियों का निषेध करता है।

भारतीय संविधान ने हम लोगों के सामने एक अति महत्वाकांक्षी और कठिन लक्ष्य रखा है। संविधान अमूर्त सिद्धांतों का संग्रह नहीं है और न ही यह शून्य में काम करता है। यह ऐसे रहन-सहन को दर्शाता है, जिसमें कोई व्यक्ति अपने उद्देश्यों और महत्वाकांक्षाओं को अनुभव कर सके। ऐसा न होने पर इसे संशोधित किया जाएगा अथवा समझौते या अन्य माध्यम से त्याग दिया जाएगा। अंततः, सामाजिक जीवन की बाध्यकारी शक्तियां अप्रतिरोध्य होती हैं।

राष्ट्रीय अस्तित्व की शर्त

भारत के लोगों ने अपनी अर्थव्यवस्था को एक पीढ़ी के भीतर रूपांतरित कर देने के असाधारण कार्य का लक्ष्य निर्धारित किया है। हमारा देश कुछ ही वर्षों में वह हासिल करने के लिए कृतसंकल्प है जिसे ब्रिटेन और अन्य देशों ने कई सदियों में किया। इस मामले में भारत के पास कोई विकल्प नहीं बचा है। हिमालय अब हमारी ढाल नहीं रहा। औद्योगिक मज़बूती अब हमारे अस्तित्व की शर्त बन गई है।

यू.एस.एस.आर. विश्व का एकमात्र देश है, जो एक पीढ़ी के भीतर स्वयं को एक पिछड़े, ग्रामीण और कृषिक समाज से एक आधुनिक औद्योगिक और अत्यधिक शक्तिशाली देश में बदलने में सक्षम हो सका। लेकिन सोवियत संघ की राजनीतिक व्यवस्था भारत से बहुत अलग है। हमारे यहाँ संसदीय लोकतंत्र के सिद्धांत पर आधारित एक संविधान है, जो सत्ता के मनमाने प्रयोग पर गतिरोधक के रूप में कार्य करता है। लेकिन गतिरोधक तो गतिरोधक होता है; यह सुरक्षा प्रदान करता है, गति नहीं। और भारत को जिस चीज़ की ज़रूरत है वह है - सामाजिक और आर्थिक क्रांति में गति क्योंकि एक राष्ट्र के रूप में हमारा अस्तित्व हमारे आर्थिक विकास की गति पर निर्भर करता है। क्या वर्तमान विधि व्यवस्था में तेजी से आर्थिक परिवर्तन हासिल करना संभव है ? यह बुनियादी सवाल न केवल भारत बल्कि पूरे गैर-साम्यवादी विश्व के सामने है। इस समस्या को दस वर्ष पूर्व एक अमेरिकी पत्रिका ने भारत को समर्पित एक विशेष लेख में निम्नलिखित शब्दों में वर्णित किया था :

"निकिता ख्रुश्चेव ने पश्चिम को अल्प विकसित क्षेत्र को विकसित करने के कार्य में साम्यवाद से प्रतिस्पर्द्धा करने की चुनौती दी है ... और जब पचास का दशक साठ के दशक में बदलने जा रहा है तो भारत के सामने यह सवाल है: क्या 9 मिलियन प्रति वर्ष की दर से बढ़ रही यह गरीब आबादी स्वतंत्र संसदीय सरकार की व्यवस्था में जीवित रह पाएगी? या अपनी जनता को भूख से मरने से बचाने हेतु भारत को अपनी लोकतांत्रिक संस्थाओं को किनारे लगाकर (जैसा कि अधिकांश एशिया में पहले ही हो चुका है) उनके स्थान पर साम्यवादी चीन के क्रूर तरीकों को अपनाने हेतु विवश किया जाएगा ?"[98]

इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि भारत में विधि के शासन और संसदीय लोकतंत्र का भविष्य कुछ हद तक हमारे भविष्य के न्यायाधीशों की क्षमता, बुद्धि और देशभक्ति पर निर्भर करता है। बुद्धिमान न्यायाधीश गंगा की तरह स्वर्ग से अवतरित नहीं होते: वे समाज से ही निकलते हैं और सामाजिक वातावरण से पोषित होते हैं। महान न्यायाधीश जन्मजात नहीं होते हैं वरन् उचित शिक्षा और महान कानूनी परंपराओं द्वारा उनका निर्माण होता है, जैसे प्राचीन भारत में मनु, कौटिल्य, कात्यायन, बृहस्पति, नारद, पराशर और याज्ञवल्क्य आदि जैसे विधि के दिग्गज हुए हैं। विधिक शिक्षा की निरंतर उपेक्षा राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध है।

****

[98] News Week, Dec. 19, 1959, challenge of Communism.

ABOUT THE AUTHOR

Hon’ble Mr. Justice Shanti Swaroop Dhavan started his career as a lecturer in law at Allahabad University where he rendered his valuable academic services from 1940 to 1954. He then served as a judge of the Allahabad High Court from 28 June 1958 to 2 July 1967, and was appointed a senior advocate at the Supreme Court of India. He was then appointed High Commissioner to the United Kingdom, and served from 1968 to 1969. He was also Hon’ble Governor of West Bengal from 19 September 1969 to 21 August 1971.

ABOUT THE TRANSLATOR

Sri Brahmatej Chaturvedi is currently serving as Registrar (J)(Enquiry), Hon’ble High Court, Allahabad. He is a 2003 Batch Judicial Officer in the State of U.P. He got promoted to Higher Judicial Services in 2016. He has worked as a Judge on both Civil and Criminal sides. He has also served previously in Gonda, Agra, Banda and Hamirpur. The translator takes keen interest in academic and literary activities and painting is his hobby. He has previously published articles in JTRI Journal. Before joining Judicial Services in U.P., he has practiced advocacy on both criminal and civil sides in district Pilibhit for many years.